UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180023

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H86 | J98A Accession No. G 11 '11

Author ज्वाग, स्टीफन |

Title अनुरक्षा | 1930

This book should be returned on or before the date last marked below.

अनुरक्ता

[अमर जर्मन कलाकार स्टीफ़न ज्विग की अमर रचना—'अपरिचित नारी का एक पत्र' का भावानुवाद]

●

—सुरेशचन्द्र वार्ष्णेय, एम.ए.

प्रकाशक
देवेन्द्रकुमार गोस्वामी
मैनेजिंग डायरेक्टर
चेतना प्रकाशन लिमिटेड
आबिद रोड, हैदराबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण १९५७

मुद्रक
केदार शर्मा
कमर्शियल प्रिंटिंग प्रेस
हैदराबाद

मूल्य १।८)]

महामानव स्टीफ़न ज्विग का जन्म सन् १८८१ में, अपने साहित्यिक एवं सांस्कृतिक वातावरण के लिए प्रसिद्ध वियना नगर में हुआ था। ज्विग हृद्गत भावों का आश्चर्यजनक ढंग पर विश्लेषण करते हैं। शुष्क अस्थियों में प्राण डाल देना ज्विग के लिए बाएं हाथ का खेल था। चरित् नायक अथवा नायिका की अंतरात्मा में प्रवेश करके उसकी जीती जागती मूर्त्ति पाठकों के सम्मुख खड़ी कर देने की कला में वे अद्वितीय थे। भाषा और विचारों में काव्यमय प्रवाह तथा विद्वत्ता और जीवन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, इन तत्वों ने ही ज्विग के व्यक्तित्व और उनकी शैली का निर्माण किया था। संपूर्ण मानव समाज पर उनकी आस्था थी। संपूर्ण समाज के हित के लिए वे अकेले ही संघर्ष करते रहे। ब्राज़ील की राजधानी पोट्रोपैलिस में सन १९४२ में उनकी आत्महत्या ने उनके जीवन पर पर्दा डाल दिया। अंतर्राष्ट्रीय प्रेम तथा विश्वव्यापी शांति के लिए वे जिए और मरे। उन्होंने कहा है "पाशविक बल अंतरात्मा पर विजयी होता है। प्रत्येक शिशु के जन्म के साथ एक नयी चेतना का उदय होता है। कभी न कभी कोई मनुष्य अपने आध्यात्मिक उत्तरदायित्व को अनुभव करेगा और मानवसमाज के

नैसर्गिक अधिकारों के लिए जो सनातन संघर्ष होता आ रहा है उसे आगे बढ़ायेगा। द्वेष और घृणा के इस युग में वे आध्यात्मिक दूत के रूप में हैं।" ज्विग ने कितनी ही पुस्तकें लिखी हैं। आपकी कई पुस्तकें लाखों की संख्या में छप चुकी हैं। संसार की लगभग तीस भाषाओं में आपकी पुस्तकों का अनुवाद हो चुका है। प्रस्तुत पुस्तक आपकी प्रसिद्ध पुस्तक 'लेटर फ्रोम एन अननोन वूमेन' का भावानुवाद है। अनुवादक भी सांस्कृतिक जीवन में कुछ योग देते है। विभिन्न देशों के बीच सांस्कृतिक संदेशवाहक का वे कार्य करते हैं। प्रस्तुत भावानुवाद में मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ इसका निर्णय पाठक ही कर सकेंगे। आशा है हिन्दी भाषी जनता इस पुस्तक को पसंद करेगी।

राजाबहादुर बिल्डिंग
४३, टेमेरिंड लेन फोर्ट
बम्बई
१५-८-५०

सुरेशचन्द्र वार्ष्णेय

प्रातःकाल। प्रथम प्रहर।

वैशाली के एक भव्य भवन में उन्मुक्त वातायन के समीप बैठा एक सुंदर युवक। वह अपने समय का एक प्रमुख कवि है, परंतु आधुनिक कवियों की भांति धनाभाव से आक्रांत नहीं। संभ्रांत नागरिकों में उसकी गणना है और नगर के उच्च सामंतों तथा धनिकों से उसका संबंध।

दैनिक कोलाहलमय व्यस्त जीवन से ऊबकर अपने हिमालय की तलहटी के एक ग्राम में कुछ समय व्यतीत करने के पश्चात् वह अभी लौटा है। भृत्य ने कहा कि उसकी अनुपस्थिति में कई सज्जन आए थे। पत्रों का एक ढेर भी बाट जोह रहा था। यात्रा की थकान से दबी एक दृष्टि उन पर डाली। कुछ लेख परिचित थे। एक आध को खोला। किसी अपरिचित द्वारा प्रेषित एक मोटे बंडल को एक ओर रख दिया।

सहसा उसे याद आया, आज आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी है, उसकी जन्मतिथि। वह हँसा—४१ वर्ष!

दास को मदिरा लाने की आज्ञा दे वह अधोन्मीलित नेत्र लेट गया। मदिरा आने पर पिपासा शांत कर कुछ स्वस्थ होकर वह शेष पत्रों की ओर आकृष्ट हुआ। किसी में उसकी किसी कविता की प्रशंसा है तो किसी में उससे मि ने की उत्कृष्ट अभिलाषा प्रकट की गई है। कोई किसी निर्धन ब्राह्मण की ओर से है जो कुछ साहाय्य चाहता है और किसी में उसे किसी उत्सव विशेष में पधारने का निमंत्रण। अंतमें उस 'पैकेट' की बारी आई।

स्त्रियोचित अक्षरों में घसीटे अनेक पृष्ठ। उन्हें साधारण पत्र की अपेक्षा एक पांडुलिपि कहना अधिक उपयुक्त होगा। स्वभावानुसार उसने उन्हें फिर उलट पलट कर देखा। साथ में न कोई पत्र सम्बद्ध था और न कहीं प्रेषक का नाम और पता। हां प्रथम पृष्ठ पर समर्पण के रूप में लिखा था "तुम्हें ही, जिन्होंने मुझे कभी नहीं पहिचाना।" मास्तिष्क में उलझन उत्पन्न हुई, "क्या यह मुझे संबोधित है?" जिज्ञासा जागृत हुई और आगे पढ़ने लगा—

"मेरा पुत्र इस रात प्रपंचपूर्ण संसार को छोड़ गया। मैं तीन दिन और तीन रात्रि लगातार उसके नन्हें से प्राण

के लिए मृत्यु से युद्ध करती रही। तीन दिन तक उस ज्वराक्रांत रोगी के समीप मैं अपलक बैठी रही। कई उदास सूर्योदय आए और आई अलस संध्याएँ। वह कांतिहीन अंगारे की भांति तप्त, बिछौने पर पड़ा था और मैं निःसहाय उसके निकट एक मंचिका पर बैठी थी। कभी उसके ललाट पर पट्टी रखती थी और कभी उसके अशांत हाथ अपने हाथों में दबाती थी। तृतीय दिवस सायंकाल को मेरी इंद्रियां शिथिल हो गईं, आंखें बरबस बंद हो गईं और उसकी खाट के समीप भूमि पर ही मैं कम से कम एक प्रहर अवश्य सोई। मेरी इस असावधानी से लाभ उठाकर यमराज उसके प्राण धीरे से चुरा ले गए। जब मेरी आंखें खुलीं तो मैंने देखा कि मेरी निधि लुट चुकी है। मेरा खिलौना, मेरा प्यारा छौना, तुम्हारा प्रतिबिंब टूट चुका है।

मेरे जीवन का एकमात्र अवलंब अब महानिद्रा में सो रहा है। उसके विशाल नेत्र कोटरों में घुस गए हैं, लाल अधर पीले पड़ गए हैं। टिमटिमाते दीपक के मंद प्रकाश में छाया और प्रतिच्छायाएँ उसकी आकृति पर आंखमिचौनी खेल रही हैं। अरे, उसके शरीर में मुझे अभी स्पन्दन का आभास हुआ। प्रतीत होता है कि वह अभी जाग उठेगा और अपनी तोतली बोली से घर भर

देगा। परन्तु मैं फिर उस ओर दृष्टिपात न करूंगी। आशा और निराशा का आखेट न बनूंगी। मुझे ज्ञात है कि मेरे पुत्र ने सांझ ही महाप्रयाण किया है। इस विस्तृत पृथ्वी पर अब तुम्हारे अतिरिक्त मेरा कोई नहीं, हो तो केवल तुम-जो मुझे पहिचानते भी नहीं, जिनके लिए स्त्री केवल विलास, आमोद-प्रमोद का साधन मात्र है। नियति की कैसी विडम्बना है! तुम मुझसे परिचित भी नहीं और मैं अपने जीवन का प्रत्येक क्षण तुम्हारे चरणों पर ही अर्पित किए रही हूँ।

एक दूसरा दीप जलाकर मैं यह पत्र लिखने बैठी हूँ। इस शव के समीप बिना किसी से बोले बैठे रहना अब मेरी सामर्थ्य से परे है। तुम मेरे जीवन-सर्वस्व हो, फिर सोचो तुम्हारे अतिरिक्त इस कालरात्रि में और किससे वार्तालाप करूँ? शायद तुम मेरा तात्पर्य न समझ सको। मेरा मस्तिष्क घूम रहा है, अंग अंग टूट रहा है। प्रतीत होता है कि विषम ज्वर की कृपा मुझ पर भी हो गई है। आह! क्या मेरा भाग्य होगा कि मैं अपने लाल से फिर मिलूँ—इस कठोर संसार से दूर? मेरी आंखों के सामने रह रहकर अंधकार छा जाता है। लगता है कि मैं यह पत्र समाप्त न कर सकूंगी। परन्तु जीवन की अंतिम बेला में केवल एक बार तुमसे सब कुछ कहने में मैं अपनी

संपूर्ण शक्ति लगा दूंगी।

मैं केवल तुमको ही प्रथम बार अपने उस जीवन से परिचित कर देना चाहती हूँ जिसका प्रत्येक क्षण तुम्हारा ही रहा है और जिससे तुम नितांत अनभिज्ञ हो। परंतु यह सब तभी, जब तुमको किसीके सम्मुख लज्जित होने का, उत्तरदायी होने का भय न रहे। यदि यह ज्वर, यह वेदना मेरे लिए शांतिमय अंत सिद्ध होगी तभी तुम यह जान सकोगे। यदि मुझे अभी कुछ और जीवित रहना पड़ा तो मैं यह पत्र फाड़ डालूंगी और मेरा साथी रहेगा वही चिरसंगी मौन। यह पत्र यदि कभी तुम तक पहुंचे तो समझ लेना कि एक मृत स्त्री अपनी आत्मकथा तुम्हें सुना रही है, ऐसी कथा जिसका आद्यंत-प्रत्येक क्षण तुम्हारा ही रहा है। मेरे शब्दों से भयभीत न होना प्राण ? मृत स्त्री तुमसे क्या याचना करेगी ? उसे प्रेम, आर्द्रता अथवा सांत्वना किसी भी वस्तु की आकांक्षा नहीं। मेरी केवल एक ही प्रार्थना है। यह आंतरिक यंत्रणा जो रहस्य मुझ से खुलवा रही है, उस पर विश्वास करना-बस। मेरे शब्दों के सत्य में शंका न करना। मुझे कुछ और नहीं चाहिए। पुत्र-प्राणा जननी अपने एक मात्र छौने की मृत्यु-शैया के निकट असत्य बोलेगी क्या ?

मैं अपने संपूर्ण जीवन के पृष्ठ तुम्हारे सम्मुख खोल

रही हूँ—हां, संपूर्ण जीवन, क्योंकि मेरी नीरस दिनचर्या में जीवन प्रस्फुटित तो तभी से हुआ जबसे तुमने उसमें पदार्पण किया। उससे पहले की स्मृति तो धुंधली, अस्पष्ट ही है। मेरे हृदय का उससे कोई संबंध नहीं।

हां, तो जब तुम मेर जीवन में आए मैं तेरह वर्ष की थी। मैं उसी भवन में रहती थी जिसमें तुम आज निवास करते हो, जिसमें तुम यह पत्र—मेरे जीवन की अंतिम श्वास पढ़ रहे हो। तुम्हें हम लोगों की याद तो न रही होगी। कोषाध्यक्ष की मलिन, दीन विधवा और उसकी कृपांगी, अर्धविकसित कन्या को तुम बहुत पहिले ही भूल चुके होगे। हम लोग सदा शांत रहते थे, संभ्रात परंतु निर्धन श्रेणी के प्रतीक स्वरूप। मुझे संदेह है कि तुम हमारा नाम भी जानते हो। न हम किसी से संपर्क रखते थे और न कोई हमारे यहां ही आता था। और फिर यह १५-१६ वर्ष की पुरानी बात है। एक युग बीत गया। निश्चय है तुम्हें कुछ भी याद न होगा। परंतु मुझे तो उस चित्र की प्रत्येक रेखा सुस्पष्ट है। उस शुभ घड़ी की स्मृति, जब तुम्हारा नाम प्रथम बार सुना था, जब तुम्हारा प्रथम दर्शन किया था, कल जैसी ही ताज़ी है। ज़रा धैर्य रखना, मेरे दुलार, कहीं पढ़ते पढ़ते थक न जाना। मैं तो जीवन भर तुम्हें प्रेम करते थकी नहीं।

पिताजी के शरीरांत पश्चात् हमारी जीविका के साधन प्रायः निःशेष हो चुके थे। मृत्यु के पहले राजकोप के भागी होने के कारण उस ओर से कुछ सहायता मिलने की आशा तो थी ही नहीं। घर के बहुमूल्य पदार्थ भी एक एक कर हाट में जा चुके थे। और अब वह विशाल भवन शून्य में खड़ा मानों मनुष्य के भाग्य पर हँस रहा था। गृहस्वामी के जीवन में दास, दासियों, मित्रों और संबंधियों से भरा वह भव्य भवन पिता की अनुपस्थिति में हम दोनों के लिये बहुत बड़ा था। किसी के सम्मुख याचना कर सकते नहीं थे। भाग्यवश एक कुटुंब उत्तरापथ से व्यापार इत्यादि के संबंध में दो वर्ष के लिए नगर में आया और उसने हमारे गृह के एक भाग में रहना स्वीकार कर लिया। हम लोग कुल मर्यादा में संकुचित घर से बाहर नहीं निकलते थे। नये किरायेदार और उसके घर के सदस्यों से भी नहीं मिलते जुलते थे। उनकी कर्कशा स्त्री हमें अभिमानी, दंभी और न जानें क्या क्या कह कर पुकरती। बच्चे इतने झगड़ालू और असभ्य थे कि दिन भर घर में कोहराम सा मचा रहता। येन केन प्रकारेण एक दिन हमने सुना कि वे लोग जा रहे हैं। शांति की सांस ली। परंतु प्रश्न था कि जीविका का यह अवलंब भी जाता रहा। मां ने निश्चय किया कि यदि यह भवन बिक

सके तो बेच कर, धन एकत्रित कर हम लोग वैशाली छोड़ दें और मातामह के देशमें जा बसें।

कुछ काल पश्चात् एक दिन मां ने कहा—"अपने भवन को एक कवि मोल लेने वाले हैं-अविवाहित। चलो अब प्रतिदिन की अशांति न रहेगी।" यही वह शुभ मुहुर्त था जब मैंने तुम्हारे विषय में प्रथम बार सुना। मां ने अनुनय विनय कर के मल्ल जाने वाले एक सार्थ के हाथों एक पत्र मातुल को भेज दिया कि वह शीघ्र हम लोगों को बुलाने का प्रबंध कर लें।

दो एक दिन बाद चित्रकार आए, शिल्पी आए। भवन को खूब साफ़ किया गया। दीवारों पर भांति-भांति की चित्रकारी की गई। द्वार, वातायन, तोरण सब को नव वधू की भांति सजाया गया। खटखट तो बहुत होती थी परंतु संतोष इतना ही था कि शीघ्र ही चिरस्थायी शांति मिलेगी। यह सब काम तुम्हारा श्वेतकेशी मुख्य परिचारक देखता भालता था—वह भीमकाय, गंभीर वृद्ध 'क्षुद्रक'। प्रतीत होता था कि उसका जीवन उच्च कुलों में सेवा करते ही बीता है। वह सभ्य और मिलनसार था परंतु निम्न श्रेणी के भृत्यों से संपर्क न रखता था। आरंभ से ही मेरी माता का आदर करता था शायद उससे किसीने हमारी पूर्व संपन्न दशा का हाल कह दिया होगा। तुम्हारे

विषय में कुछ कहते समय उसके नेत्रों में तुम्हारे प्रति जो श्रद्धा और प्रेम झलक उठता था वह मेरे लिए आदर की वस्तु थी। मुझे इर्ष्या होती थी तुम्हारे क्षुद्रक पर। वह भाग्यशाली था तुम्हारे सामीप्य और सेवा का अधिकारी।

इन पंक्तियों को गौण, नीरस समझ कर ऊब न जाना मेरे स्वामी! कल्पना करना कि किस भाँति तुम्हारी ज्वलंत प्रतिमा का प्रभाव आरंभ से ही एक संकुचित, भीरु बालिका पर पड़ने लगा था। तुम्हारे आगमन से पहिले ही मानों वैभव, ऐश्वर्य और रहस्य का आवरण तुम्हारे चारों ओर टंक चुका था। हम लोग तुम्हें देखने को कितने आतुर हो रहे थे! और विशेष कर मैं-जब मैंने तुम्हारे दूसरे दासों को विभिन्न उपकरण लाते हुए देखा तो तुम्हारा आगमन समीप जानकर अपने अंतस्तल में एक गुदगुदी, एक कंपन का अनुभव किया। कैसी सुन्दर वस्तुएं आ रही थीं—सिंहल की मनोहारिणी दंत मूर्त्तिएं, यवद्वीप के रत्नजटित स्वर्णपात्र, पार्शव बेलबूटेदार कालीनें कपिशा के अक्षोट काष्ट के विशाल दीपाधार और देश देशांतरों के कुशल चित्रकारों के बड़े मनमोहक चित्र! सबसे अंत में पुस्तकें आईं, ढेर की ढेर।

एक कमरा पुस्तकालय के लिए चुना गया। उसके द्वार पर भृत्य पुस्तकें बाहर से लाकर एकत्रित कर रहे

थे और क्षुद्रक प्रत्येक को झाड़ झाड़कर यथास्थान रख रहा था। मै कौतूहल पूर्वक उन्हें देख रही थी। भृत्य ने मुझे भगाया नहीं, परन्तु उसकी गंभीर मुद्रा में प्रोत्साहन भी न था। मैं दूर से ही उन सुंदर पुस्तकों को देखती रही। मुख पृष्ठ पर विभिन्न भाषायें लिखी थीं, संस्कृत पाली, पार्शवी और न जाने क्या क्या, जो मैं उस समय जानती भी नहीं थी। उनको एक बार स्पर्श करने की लालसा कितनी तीव्र हो उठी थी! मैं न जाने कितनी देर उत्सुकता से खड़ी रहती यदि मां न बुला लेतीं।

मैंने तुम्हें अभी तक न देखा था, परन्तु रात को बड़ी देर तक तुम्हारी ही बात सोचती रही। कैसे होंगे वह, जिनके पास इतनी पुस्तकें हैं, जो इतने विद्वान हैं, इतनी भाषायें जानते हैं और साथ ही इतने वैभव के स्वामी हैं! मेरे हृदय में भक्ति की एक सरिता प्रवाहित होने लगी। मास्तिष्क में तुम्हारी काल्पनिक मूर्ति आकार लेने लगी। धवल केश राशि, लम्बी श्वेत दाढ़ी वाले एक सौम्य महानुभाव का चित्र बरबस आंखों के सामने घूमने लगा। सच मानना, उस रात्रि मैंने कवि का स्वप्न में दर्शन किया।

दूसरे दिन तुम आए, सतर्क रहने पर भी मैं तुम्हारे मुख की झलक तक न पा सकी। असफलता से मेरी उत्कंठा

की अग्नि और भी प्रचंड हो उठी। तीसरे दिन मैंने तुमको देखा। कितना विस्मय हुआ। बाल कल्पना जन्य वृद्ध दार्शनिक की मूर्त्ति खंड खंड होकर गिर गई और उसके स्थान में तुम खड़े थे, वैसे ही जैसे आज हो। समय अपनी छाप तुम्हारे मुख पर डालने में असमर्थ जो हुआ है। उन्नत ललाट, दीर्घ काले नेत्र, फेन सदृश्य उज्वल अन्तर्वासक, पीतकाशिक उत्तरीय, गले में बहुमूल्य मुक्ताओं की माला, हीरक अंगूठि पहिने रथ से उतरकर चपलता के साथ दो दो सीढ़िएं चढ़ते तुम ऊपर आ रहे थे। घुंघराले केश वायु में लहरा रहे थे। श्मश्रुहीन मुख पर एक आभा थी। तुम्हारे आकर्षक रूप और छरहरे शरीर ने तो मुझे चकित ही कर दिया। कहां गया मेरा काल्पनिक चित्र ?

तुम्हारे व्यक्तित्व के वास्तव में दो रूप हैं। बाह्य रूप में एक युवक, हृदय में यौवन की उमंग और नयनों में मादकता की लाली लिए, वैभव और उल्लास की तरंगों मे दोलित, स्वर्ग-नरक की चिंताओं से परे, आमोद प्रमोद को ही जीवन का लक्ष्य बनाये हुए। यह रूप तो तुम्हारे सब परिचितों पर प्रत्यक्ष है। परंतु तुम्हारा आंतरिक प्रकांड पांडित्यपूर्ण, गंभीर, अनुभवी, सुसंस्कृत और उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक जीवन तो किसी किसी को ही प्रकट है।

सच जानना, उस प्रथम क्षण में तुम्हारी आकर्षण शक्ति से प्रभावित तेरह वर्ष की बालिका के मस्तिष्क में तुम्हारे यह दोनों रूप अनायास ही मुखरित हो उठे।

ज़रा कल्पना तो करना, उस बाला के सम्मुख तुम कैसी पहेली बन कर आए थे। जनता तुम्हें आदर की दृष्टि से देखती थी, तुम देश प्रसिद्ध कवि जो थे। परंतु मेरे सामने तो तुम उल्लास–तरंगों में केलि करते, यौवन की उमंगों से भरपूर बीस और पांच वर्ष के युवक के रूप में ही रह सके। कहना न होगा कि इस क्षण से तुम मेरी कल्पनाओं के केन्द्र बन चुके थे। यौवन के आंगण में पदार्पण करती मुग्धा के उपयुक्त ही एक अज्ञात भक्ति उदित हुई थी तुम्हारे प्रति। कितना समय तुम्हें एक बार, केवल एक बार, देखने के मोह में मैंने द्वारसंधि पर बिताया है? किस प्रकार तुम्हारी अनुपस्थिति के दिन मैंने अंगुलियों पर गणना करके काटे हैं?

तुम्हारे यहां आते जाते लोगों पर मैं दृष्टि रखती। आगन्तुकों में बहुत से अल्हड़ युवक होते जिनके साथ तुम किलोलें करते और मादक हँसी से वह विशाल अट्टालिका गूंज उठती। कभी कोई कुलीन महिला भव्य रथ पर आती। एक बार तो राज-नाट्य-शाला का सूत्रधार भी आया, स्वर्णांकित दंड धारण किए। इतने समीप से

मैंने उसे कभी नहीं देखा था। काव्य मर्मज्ञ साहित्यिक आते। कभी बालाएं आतीं और सलज्ज भाव से निःशक उस विशाल द्वार के पीछे अंतर्हित हो जातीं। प्रमुख सामंत, श्रेष्ठी आते, नर्तकियों के धुंधक मृदंग के साथ ताल देते और सुरा पात्र रात्रि में बहुत देर तक खटकते रहते। आनेवालों के चरित्रों में कितना असाम्य था? तुम्हारे एक ही जीवन के दो रूप मेरे सामने और भी स्पष्ट हो उठते। मेरा कौतूहल मेरी भक्ति तिरोहित होने के स्थान में उत्तरोत्तर पुष्ट होती गई। तुम्हारे अभ्यागतों में स्त्रियों का आधिक्य मुझे ज्ञात ही न हुआ। उस दिन भी नहीं, जब उषाकाल में देवदर्शन को जाते समय बहुमूल्य वस्त्रों में अवगुंठित एक महिला को तुम्हारे द्वार से निकलते देखा। मेरे जीवन में तेरह वसंत आ चुके थे और मुझे किंचित भी भान न हुआ कि प्रेमदेव मेरे अंतस्तल में पदार्पण कर चुके हैं। मैं जान भी न सकी कि तुम्हारे प्रत्येक कार्य का निरीक्षण कराने वाली आतुरता प्रेम ही है।

परंतु मुझे उस दिन, उस क्षण का पूर्ण ज्ञान है जब मैंने अपना समर्पण तुम्हारे चरणों पर किया था। मैं एक सहेली के साथ उद्यान में से आई थी। द्वार पर हम दोनों वार्तालाप में सलग्न थे। एकाएक तुम्हारा रथ सीढ़ियों के सामने रूका। चिरपरिचित चपलता से तुम कूदे। भृत्य के

पहुँचने से पहले ही मैंने यंत्रचालित की भांति द्वार खोल दिया। एक क्षण में ही तुम मेरे सम्मुख थे। तुमने मेरी ओर देखा। वे सुधा-सिंचित मदिर नयन एक ही दृष्टि में मुझे आवाहित, आलिंगित करते हुए जान पड़े। तुम्हारे ओष्ट मंद मुस्कान के पराग से सिंचित हो उठे। किंचित् भावुकता से तुमने कहा, "धन्यवाद।"

केवल एक शब्द। परंतु इतना ही मेरे कानों में अमृत डाल गया। मेरा गात आल्हाद से कांप गया। उसी क्षण से जब से तुम्हारी सम्मोहिनी दृष्टि मुझपर पड़ी, मैं तुम्हारी हो गई। मुझे ज्ञात न था कि तुम स्वभावतः, अनजाने ही स्त्री मात्र को इसी दृष्टि से देखते हो आकर्षक, तीर की भांति अन्तस्तल तक पहुँचने वाली जन्मजात ऐन्द्रजालिक की बेधक दृष्टि। तुम्हारे नेत्र अनायास ही साधारण परिचारिका, राजपथ पर खड़ी नगण्य मालिन युवती के ऊपर इसी मृदुता के साथ पड़ते हैं। इसका यह अर्थ नहीं, मोहन! कि इन सब स्त्रियों पर तुम्हारी लालसा रही हो। परंतु इतना अवश्य सत्य है कि नारी के प्रति सहज अनुराग होने के नाते जब कभी तुम्हारे नयन किसी भी स्त्री की ओर उठते हैं तो उनमें स्नेह सिक्त मधुरता छलक उठती है। परंतु तेरह वर्ष की आयु में मैं इन सब भावों से अपरिचित थी। उस दृष्टि ने मुझे आपादमस्तक

स्नेहवारि में स्नान करा दिया। मुझे ज्ञात हुआ कि यह कोमलता मेरे लिए, केवल मेरे लिए ही थी। मेरे जीवन का स्रोत बदल गया। एक क्षण में ही मुझ अर्धविकसित बाला में स्त्री जाग्रत हुई—स्त्री जो सदैव के लिये तुम्हारी होने वाली थी।

हँसी ने मुझे सहसा मोह निद्रा से चौंका दिया। सखी ने पूछा "यह कौन थे?" पहले तो मैं उत्तर ही न दे सकी। तुम्हारा नाम उच्चारण करना मेरे लिए असंभव जो हो गया था। वह तो मेरे लिए पूजनीय गुप्त निधि हो उठा था न। मैंने कुछ अप्राकृतिक ढंग से कहा, "हमारे भवन के नये स्वामी।" "तब उनकी दृष्टि पड़ते तुम इस प्रकार लज्जा से रक्तिम क्यों हो उठीं," प्रश्न में व्यंग था। मुझे ऐसा जान पड़ा कि वह मेरे आंतरिक अमूल्य रहस्य तक पहुँचने का प्रयास कर रही है शायद। उसने तुम्हारे प्रति मेरे आकर्षण का क्षीण आभास पा लिया है कदाचित्। मैं शिष्टाचार भूल बैठी। "तुम तो मूर्ख हो, बड़ी मूर्ख," क्रोध से मैंने कहा। उसका गला घोंट देने को जी चाहा—वह व्यंग और अवहेलना की हँसी जो हँस रही थी। अपनी बेबसी पर मैं झुंझला उठी। क्रोध से आंखों में आंसू उमड़ पड़े और मैं उसे वहीं छोड़ भवन में चली गई।

तब से मैं निरंतर तुम्हें प्रेम करती हूँ। यह मुझे ज्ञात है कि "तुम्हें प्रेम करती हूँ" यह वाक्य तुम पग-पग पर पढ़ोगे इस पत्र में। परन्तु मुझे पूर्ण विश्वास है कि किसी ने कभी भी तुम्हें इस प्रकार प्यार नहीं किया है—निश्छल, निष्काम, भक्ति और दास्य भाव पूर्ण। अकेली बालिका के अज्ञात प्रेम की तुलना मही पर नहीं। केवल एकाकी बाला ही इस झंझावात को हृदयस्तल में छिपाये रह सकती है। प्रौढ़ाएं तो अपनी भावनायें साहचर्य में अपव्यय कर देती हैं, वार्तालाप में भुला देती हैं। उन्होंने प्रेम के विषय में बहुत कुछ सुना और पढ़ा होता है। वे जानती हैं कि ऐसा सबको होता है। वे 'प्यार' से एक खिलौने की भांति खेलती हैं। नवीन मद्यप के मदिरा पात्र की भांति वे इसका प्रदर्शन करती हैं। मेरी कोई विश्वस्त सहेली न थी। मुझे समाजशास्त्र की शिक्षा नहीं दी गई थी, न संसार के प्रति कोई चेतावनी। मैं अनुभव शून्य और निःशंक थी। यौवन की मादकता का मुझे परिचय न था। अनिश्चित भविष्य का आलिंगन करने मैं अंधकार में कूद पड़ी। प्रतीत होता था कि मेरे हृदय का प्रत्येक स्पन्दन, अन्तर की प्रत्येक भावना तुम्हारे ऊपर, केवल तुम्हारे ऊपर केन्द्रित है। पिताजी बहुत पहले ही महाप्रयाण कर चुके थे। दुखिया मां को व्यस्त रखने के लिये अशन बसन का प्रबन्ध ही यथेष्ट था। फलस्वरूप वह मेरी ओर

से उदासीन ही रही। हमजोलियों, परिचित युवतियों से कुछ आशा थी नहीं। जो वस्तु मुझे एक दिव्य उर्मि थी वह उन्हें केवल एक खिलवाड़, एक अभिनय मात्र थी। तुम मेरे विश्व थे, परमेश्वर थे, अस्तित्व मात्र थे। जहां 'तुम' या 'तुम्हारा' न था वहां की प्रत्येक वस्तु मेरे लिए अपरिचित थी।

अब तक मेरी अध्ययन की ओर किंचित् मात्र भी रुचि न थी। मां का उपालंभ और भर्त्सना इसके लिए मुझे सदैव मिलते। परंतु तुम्हारी अध्ययनशीलता का पता मुझे लग गया था। अतएव अब अर्धरात्रि तक पढ़ना मेरे दैनिक कार्यक्रम का एक भाग हो पड़ा था। मैंने कल्पना कर डाली कि तुम संगीत प्रेमी भी होगे। अतः पुरानी अस्त व्यस्त पड़ी वीणा निकाली और मां की इच्छा के प्रतिकूल उस पर अभ्यास प्रारंभ कर दिया।

मैं अपने फटे परिधान की संधियों की मरम्मत करती जिससे तुम्हारी दृष्टि उनपर न पड़ जाय। भय था कि वस्त्रों की हीनता से तुम मुझसे घृणा न करने लगो। कैसी मूर्ख थी मैं ? तुमने शायद फिर मुझ पर दृष्टिपात तक न किया। मेरे दिवस यथापूर्व तुम्हारी झलक पाने की प्रतीक्षा में ही व्यतीत होते। मुझ पर हँसना नहीं! द्वार-संधि पर नष्ट समय के लिए मुझे आज भी परिताप नहीं है।

शिशिर की ठंड थी और था मां का भय। दिन भर पुस्तक हाथ में लिए मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करती रही। मेरी हृद्तंत्री तुम्हारे सामीप्य की बाट जोह रही थी जैसे बीणा के तार अंगुलिस्पर्श की। अपनी कल्पना में मैं तो तुम्हारे चिर-नैकट्य का अनुभव करती थी, परंतु तुम्हें मेरे अस्तित्व का भी भान न था। शरीर में निरंतर धड़कते हृदय के स्पंदन का अनुभव कौन करता है? जीवन के बीतते कोटि कोटि क्षणों में से एक आध में शायद तुम्हारी दृष्टि मुझ पर पड़ती हो—विहंगम दृष्टि दूर दूर उड़ते पक्षी की भांति। मेरे तेरहवें से सोलहवें वर्ष पर्यन्त की प्रत्येक घड़ी तुम्हारी थी इस समय में मैंने क्या क्या मूर्खताएं नहीं कीं? कितनी बार छिपकर तुम्हारे स्पर्श किए, द्वार—दंड का चुंबन किया कितने ही समय तक तुम्हारे हाथ से फेंके सुरभिहीन पुष्प संचित किए रही। कितनी ही संध्याओं में किसी न किसी बहाने से राजपथ पर केवल तुम्हारे आलोकित वातायन की एक झलक देखने गई—तुम्हारी अदृष्ट उपस्थिति अनुभव करने अपने निराश हृदय को कुछ सांत्वना देने। तुम्हारी अनुपस्थिति में (वह तुम्हारी अर्थहीन यात्राएं!) मेरा जीवन प्राण हीन हो पड़ता। मृत्यु जैसी नीरवता में मैं घर में उद्देश्यहीन घूमती फिरती, मां से अपनी रोती आंख छिपाए।

मैं जानती हूँ यह सब तुम्हें व्यर्थ, निरर्थक प्रलाप लगेगा। कहोगे मुझे इससे लज्जित होना चाहिये, इस पर परिताप होना चाहिए। पर मुझे तो इस पर गर्व है, अभिमान है। यह समय तो मेरे जीवन का उज्वलतम भाग है। मेरा प्रेम उतना निश्छल, उद्वेगपूर्ण और उतना पवित्र कभी नहीं रहा। उसमें आत्मविस्मरण था, अतृप्त पिपासा थी। जो वर्ष, दिवस तुम कभी के भूल चुके हो, उनका वर्णन करने में, अपने कल्पित साहचर्य की कथा सुनाने में मैं घड़ियें व्यतीत कर सकती हूँ। परंतु तुम तो मुझे पहिचानते भी नहीं। इसके लिए मैं तुम्हें दोषी भी कैसे ठहराऊं ? मेरी लज्जाशीलता के कारण शायद ही कभी तुमने मुझे भली प्रकार देख पाया हो। यदि दुर्भाग्यवश (?) कभी ऐसा अवसर आता कि मेरे मार्ग में तुम एकाएक आ पड़ते और मैं हट न पाती, तो मुझे काठ मार जाता। अवनत मुख, किसी प्रकार मैं वहां से भाग निकलती, तुम्हारी ज्वलंत दृष्टि से भयभीत—दावानल से संतप्त हरिणी की भांति।

जीवन के इन पुराने अध्यायों को खोलते समय एक घटना बरबस सामने आ' जाती है। एक दिन तुम कहीं विदेश गए थे। यथापूर्व केवल क्षुद्रक भवन में रह गया था। वह तुम्हारे मुख्य कोष्ट के कालीनों को सुखाकर

अंदर ला रहा था। उस अकेले को वे भारी पड़ रहे थे। मैंने डरते डरते पूंछा, "क्या मैं सहायता करूं?" वह चकित अवश्य हुआ परंतु मूक सम्मति दे दी। भय मिश्रित श्रद्धा से मैंने तुम्हारे प्रकोष्ट में पदार्पण किया। अपने संसार की एक झांकी ली-लेखन-मंजूषा, जहां तुम बैठते थे (इस पर एक सुंदर पुष्प पात्र था) चित्र, पुस्तकें। मैं केवल एक सरसरी दृष्टि ही सब ओर डाल सकी। कहीं तुम्हारा भृत्य समझ न जाय? कितनी मूर्ख थी? यदि मैं साहस करती तो वह कदाचित संपूर्ण भवन मुझे दिखा देता मेरी जिज्ञासा की तृप्ति कर देता। परंतु मुझे इतना ही यथेष्ट था। जितना भी देख लिया था, शेष जीवन भर कल्पना के तारों से स्वर्णिम संसार बुनने के लिए काफ़ी था।

तुम्हारे प्रति आकर्षण ने मुझे और सब दिशाओं से उदासीन कर रक्खा था। मैं भूल ही गई कि वर्षा कभी की समाप्त हो गई है। लोग अपने अपने घरों की सफ़ाई और मरम्मत कराने में लगे हैं। कार्तिक मास आ गया है और मातुल का सार्थ आने वाला है। एक दिन मांने मुझे पास बुलाया। उनकी गंभीर मुद्रा देख मैं भयभीत हो गई। "भगवान!" मेरा हृदय धड़क रहा था "क्या मां को कुछ शंका हो गई है? क्या किसी मेरी चेष्टा से

भेद खुल गया है।" मेरी प्रथम चिंता तुम्हारे विषय में, अपने अमूल्य रहस्य के विषय में थी जिस पर मेरा जीवन निर्भर था। परंतु मां स्वयं व्यग्र थीं। जिस भवन में वे वधू बनकर आईं, जहां उन्होंने जीवन के उतार चढ़ाव में, दुख सुख में पिताजी के पार्श्व में अपने चालीस वर्ष व्यतीत किए और उनके परलोकवास के बाद जहां वे एकाकी काल-यापन कर रही थीं, उसे छोड़ना उन्हें भी कष्टकर ही था। उनके काले तारकों पर स्निग्ध जल की परत पड़ी हुई थी। मुझे अपने पास खींच, केशों का उपाघ्राण करके वह बोलीं, "भवन बिक चुका है। नये स्वामी उसमें ठीक अवस्थित हो चुके हैं। शूरसेन आने-वाला ही है। हम शीघ्र प्रस्थान···।" आगे मैंने नहीं सुना। म अवसन्न रह गई। आंखों के आगे अंधकार छा गया। पीछे ज्ञात हुआ कि मैं अचेत हो गई थी। अगला सप्ताह मेरे लिए बड़ा भयानक था। इन दिनों जिस भांति मेरा हृदय गुरुजनों से विद्रोह करता रहा, उसकी स्मृतिमात्र से मेरी आत्मा आज भी कांप उठती है। मेरी, वहीं रहने के लिए, समस्त चेष्टाएँ, अनुनय विनय व्यर्थ हुईं। वे बाल हठ ही गिनी गईं। वास्तविक रहस्य तो मैं प्रकट कर ही नहीं सकती थी। मैं कैसे कह सकती थी कि मेरा प्रेम मान्दिर तो यहीं है, जल के बाहर मीन का स्थान कहां ?

देखते देखते अंतिम रात्रि आ पहुंची। सब सामान बंध चुका था। भवन का हमारा वाला भाग पूर्ण रूप से ख्वाली था। मां यात्रा संबंधी प्रबंध करने में व्यस्त थीं। मेरे मस्तिष्क में झंझावात उठ रहा था। कहना कठिन है कि विचार धारा किस ओर प्रवाहित हो रही थी, उस नैराश्य घड़ी में मैं कुछ विचार करने योग्य भी रह गई थी या नहीं। हृदय ने कहा कि तुमसे अलग मेरा कोई अस्तित्व नहीं। मैं तुम्हारे द्वार की ओर गई। "गई" कहना उपयुक्त न होगा। शिथिल अंगों और कंपित हृदय से बरबस तुम्हारे द्वार की ओर आकृष्ट हो गई—चुंबक की भांति। मैं तुम्हारे चरणों पर गिरने गई थी। कहने गई थी कि मुझे अपने से अलग न जाने दो, अपनी सेवा में रख लो, एक दासी की भांति, परिचारिका की भांति।

तुम कदाचित हँसो पन्द्रह वर्ष की बालिका की इस मूढ़ता पर। परन्तु तनिक कल्पना करना कि शिशिर की उस ठंढ में, भविष्य की आशंका से भीत किस भांति मैं द्वार तक पहुंची, किस भांति इच्छा के विरुद्ध भी मैं तुम्हारे द्वार की ओर खिंचती गई। उन नीरव अन्तर्द्वन्द्व के पलों के पश्चात् मैंने तुम्हारे भृत्य को पुकारा। वह तेज आवाज भवन में प्रतिध्वनित होकर रह गई। वह शब्द आज भी मेरे कानों में गूंज रहा है। पश्चात् की

निस्तब्धता में आवेग से मेरा हृदयान्दोलन बंद सा होने लगा, रक्त धमनियों में जम सा गया। प्रतीत हुआ तुम आए, तुम आए।

परंतु तुम न आए। कोई न आया। तुम कहीं गए थे। कितनी क्रूर लगी थी तुम्हारी अनुपस्थिति! अपने शून्य प्रकोष्ठ में जाकर एक कंबल पर गिर पड़ी—क्लांत, जैसे घंटों हिम और तुषार में घूमती रही होऊं। इस क्लांति में भी एक दुर्दमनीय लालसा जीवित थी, जाने के पहले तुम्हें देखने की, तुमसे दो बातें करने की। मेरे हृदय में अब तक किसी वासना का उदय तो हुआ ही न था। मैं वैसी ही अबोध थी, क्योंकि तुम्हें छोड़, शेष समस्त संसार से मैं उदासीन रही। मैं तो केवल एक बार तुम्हारा दर्शन, स्पर्शमात्र चाहती थी। रात्रि भर मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करती रही। मां सोने का उपक्रम करने लगीं और मैं तुम्हारे प्रत्यागमन की प्रतीक्षा में द्वार के निकट आ गई। कार्तिक मास की कड़ाके की ठंढ थी। द्वार-संधियों में से शीत वायु तीर की भांति मेरे क्लांत शरीर को प्रकंपित कर रही थी। कोई मोटा आवरण लाना उचित न था, इसलिए कि कहीं गर्मी से निद्रा न आ जाय और तुम्हारे आने के समय आंख न लग जाय।

मेरे हाथ पैर शीतल हो गए, परंतु मैं बैठी रही तुम्हारी प्रतीक्षा में।

रात्रि के चौथे प्रहर में रथ का शब्द हुआ। भृत्य ने द्वार खोला। पदचाप स्पष्ट सुनाई देने लगे। शीत का ज्ञान एकदम जाता रहा और गर्मी की एक लहर मेरे शरीर में दौड़ गई। मैंने निःशंक अपना द्वार खोला, दौड़ने को, तुम्हारे चरणों पर गिरने को। कह नहीं सकती उस पागलपन के क्षण में मैंने क्या किया होता। आहट समीप आती गई। द्वार-मार्ग के दीपों का प्रकाश मंद हो चला था। कांपते हाथों से मैं द्वार दंड पकड़े खड़ी थी। तम गए। परंतु साथ कोई और भी था। सुना एक मृदु हास्य, वीणा विनिन्दित स्वर, रेशम की सरसराहट, किंकिणियों का मधुर रव, बीच बीच में तुम्हारा शब्द। तुम्हारे साथ एक स्त्री थी। हाय रे भाग्य! मेरे उत्साह पर तुषार पात हुआ। कंबल के ऊपर मैं मृतप्राय हो जा पड़ी। मैं नहीं कह सकती शेष रात्रि मैंने कैसी काटी। अगले दिन प्रातः ही वे मुझे ले गए। बाधा डालने की, रुकने का हठ करने की शक्ति अब मुझमें नहीं रह गई थी।

पिछली रात्रि में मेरा पुत्र मुझे छोड़ गया है। यदि मेरा जीवन कुछ और शेष है तो फिर एकाकी ही रहना

है। कल अपरिचित नागरिक आएंगे; मेरे एकमात्र पुत्र का कोमल शरीर पुष्पों में रखकर ले जाएंगे। परंतु अब यह पुष्प किस काम के ? सांत्वना के शब्द, केवल शब्द किस काम के ? मेरे सम्मुख एक भयंकर सत्य नाच रहा है— एकाकी, एकाकी। कहो तो, विशाल जनरव में एकाकी होने से अधिक भयावह क्या है ? मैं दो वर्षों तक एकाकी ही रही। सोलहवें से अठारहवें वर्ष पर्यन्त परिजनों के मध्य मैं बन्दिनी, परित्यक्ता, अकेली सी ही रही।

मातुल शांत, अल्पभाषी थे। मुझ पर बहुत स्नेह रखते थे। समवयस्काएं मित्रता के लिए आतुर रहतीं। मैं उनके आमंत्रणों की हठपूर्वक अवहेलना करती। तुमसे दूर मुझे किसी भी सुख की अभिलाषा न थी! जन रव से मुझे अरुचि थी। मेरा विचार क्षेत्र था तुम्हारी कल्पना का मंडल। श्रृंगार करने से मुझे घृणा हो गई थी। नवीन वस्त्रालंकारों के प्रति मेरा आकर्षण मर चुका था। नृत्य, संगीत का अनुराग जाता रहा था। तुमसे दूर मुझे किसी सुख की आकांक्षा नहीं थी। मुझे शोक—समाधि पसंद थी। विश्वास करना, इन दो वर्षों में मैं उस नवीन नगर के एक आध मार्ग से ही परिचित हो पाई थी। मैं जीवित थी केवल तुम्हारे दर्शन की आशा

पर। इस इच्छा के मार्ग में किसी भी अवरोध को मेरा हृदय कैसे सहन करता ?

मैं अकेली, घर के एक कोने में, प्रतिक्षण तुम्हारे विषय में ही सोचती रहती। निरंतर लौटने पौटने से तुम्हारी छोटी छोटी स्मृतियां भी हृदय पर ऐसी अंकित हो गई हैं कि आज भी उन बीते वर्षों के प्रत्येक पल का वर्णन कर सकती हूँ जैसे यह सब कल ही हुआ हो।

इस भांति मेरा जीवन पूर्ण रूपेण तुम्हारे ऊपर केन्द्रित था। तुम्हारी समस्त उपलब्ध रचनायें मैं क्रय करती। उन्हें इतनी बार पढ़ा है कि यदि कोई सुषुप्तावस्था में भी मुझे उठाकर एक उद्धरण कहे तो मैं अंत तक निधड़क सुना सकती हूँ। तुम्हारी प्रत्येक कविता मेरे लिए वेद वाक्य है। तुम्हारे विषय में नित्य नये स्वप्न देखना मुझे प्रिय था। मैं कल्पना करती कि सायंकाल को वैशाली के राजमार्ग पर घूमते रथ में तुम्हारे पार्श्व में बैठी हूँ। अश्व तुम्हारे रश्मि संकेत पर नाच रहे हैं। जनरव में परिचित गण मिलते हैं। कैसा विचित्र था मेरा कल्पना-रचित संसार !

परंतु यह सब क्यों याद करूँ ? परित्यक्ता बाला के दुख की कथा किसी के किस काम की ? और फिर तुम से यह सब क्यों, जिन्होंने मेरे दुख सुख का स्वप्न में भी

विचार नहीं किया ? नहीं, नहीं, मेरी साधना तो एकाङ्गी ही भली। मुझे तो आत्मसमर्पण में ही तुष्टि है। अस्तु।

मैं सत्रह वर्ष की हुई, अठारह की हुई। कन्या-सुलभ स्नेह, मुग्धा का आकर्षण किस समय तरुणी के प्रेम में परिवर्तित हो गया, दिन, मुहुर्त बताना कठिन है। जो इच्छा उस बालिका में, जो तुम्हारे द्वार तक गई थी, सुषुप्त रही, वह अब जाग उठी। मेरे अंतर की अग्नि सामिधा मांग रही थी। अब मैं अपनी भूखी लालसाओं को चिरतृप्ति चाहती थी। मातुल के यहां आने वाले नवयुवक मेरी ओर आकृष्ट होते, मेरे प्रति अनुराग प्रकट करते। परंतु इससे मेरा विराग और बढ़ता। मेरा जीवन तो तुम्हारे प्रेम-तंतु से ही पूर्ण रूपेण परिवेष्टित था। नवयुवकों का अनुराग मुझे एक अक्षन्तव्य अपराध, एक विश्वासघात ही प्रतीत होता।

मेरा केवल एक ही लक्ष्य था, एक ही आकांक्षा थी-वैशाली को तुम्हारे निकट प्रयाण। मां, मातुल से हठ करना व्यर्थ था। चुपचाप गृह-त्याग ही एकमात्र मार्ग समझ में आया। ५० योजन की यात्रा एकाकी असंभव थी। मैं सुयोग की प्रतीक्षा में रही। शरद ऋतु आई। सुदूर पूर्व के व्यापारी क्रय विक्रय के लिए आने लगे।

इन्हीं दिनों सुना कि नगर के...श्रेष्ठी की पुत्री का विवाह राजगृह के किसी सामंत के साथ संपन्न होना निश्चित हुआ है। इस ईश्वरप्रदत्त अवसर से लाभ उठाने का संकल्प किया। विवाहोत्सव में अन्य युवतियों के साथ मैं भी वस्त्राभूषणों से सज्जित हो पहुंची। मेरी शोक–समाधि टूटी देख मां, भाभी प्रसन्न हुईं। उन्हें क्या पता था कि समाधि–भंग के पश्चात् विरहिणी अन्तर्ध्यान भी होने को है। किसी प्रकार मैंने नववधू को सम्मत किया कि वह मुझे सखी के रूप में वैशाली तक ले चले।

ज्यों ज्यों प्रस्थान का समय समीप आता गया, मस्तिष्क में एक तुमुल संघर्ष उठने लगा। स्नेहमयी दुखिया जननी का स्नेह, मातुल–गृह का वैभव छोड़ चुपचाप जाना अथवा जीवन भर विरहाग्नि में दग्ध होते रहना, दोनों में से एक को चुनना था। दोपहर भर इस समस्या को सुलझाने की चेष्टा करती रही। एक ओर कर्तव्य था, दूसरी ओर प्रेम। जाने का अर्थ था कर्तव्य विमुखता, रुकने का अर्थ तुम से वियोग। अंतरात्मा ने कहा, "कर्तव्याकर्तव्य की धारणा तेरे हृदय में क्यों? यह क्षणिक दुर्बलता कहां से? तेरे हृदय में तो प्रेम सर्वोपरि रहा है। जहाँ धूप वहीं छाया।" दुःख, भय, चिंता बालू

की रेखा की भांति तिरोहित हो गये। अपने स्वप्न साकार करने के लिए मैंने निकलने का संकल्प कर लिया।

चतुर्दशी की रात्रि थी। चांदनी में नगर शांति से सो रहा था। केवल श्रेष्ठी का भवन ही पूर्णतः आलोकित था। नृत्य और संगीत चल रहा था। रथ, घोड़े, गाड़ियां तैयार थीं। सूर्योदय से पूर्व ही हमें चलना था। तोरण पर भैरवी बज रही थी।

सैकड़ों उल्काओं के प्रकाश में हमारा रथ नगर से निकला। क्षितिज में चंद्रमा हँस रहा था। नक्षत्र मुस्कुरा रहे थे और अभिसारिका निकल पड़ी थी—उल्लसित हृदय पर मातृवियोग की एक धुंधली छाया लिए।

कितनी लम्बी निकली यह यात्रा! कपोती होती पंख पसारे पहुंचती अपने प्रियतम के पास। सखी अलका की सौजन्यपूर्ण प्रेमसनी बातों के सहारे अंततः वैशाली पहुंची। अलका से बिदा ली। बिदा समय उसकी आंखों में भावुकता थी, स्नेह था।

वैशाली पहुंच, सखियों से अलग होते ही मेरा प्रथम कार्य क्या था? जानते हो! अपने विषय में कुछ चिंता न थी। विराम, भोजन का विचार न था। सर्व प्रथम चली अपने देवता का दर्शन करने। विक्षिप्त की भांति जा रही थी राजमार्ग पर। लोग विस्मय से

मार्ग दे रहे थे, कौतूहल से मुझे देख रहे थे। मेरे आनन्दविभोर हृदय से कितना उल्लास, उत्सुकता छलक रही थी, वे क्या जानें ? दूर, तुम्हारे वातायन से प्रकाश आते देखा। जो नगर इतना अपरिचित, इतना निर्जीव लगता था, एकदम सजीव हो उठा। एकाएक तुम्हारा इतना सामीप्य पा मेरी कुम्हलाई आत्मा मानों श्रावण के घन से परिषिक्त हो उठी। मेरे नेत्रों और तुम्हारे बीच केवल एक काच का पतला, चमकता टुकड़ा था। मैं भूल गई कि तुम्हारे मास्तिष्क से मैं अब भी इतनी दूर हूँ जितनी पर्वतों, उपत्यकाओं और नदियों से परे मामा के देश में। मेरे लिए यही बहुत था कि मैं तुम्हारे वातायन को जी भरकर देखने को स्वतन्त्र थी। वातायन प्रकाशित था, तुम भवन में थे, मुझे इतना ही यथेष्ट था। मेरी चिरवांछित अभिलाषा आज पूर्ण हो रही थी। जब तुम्हारे कमरे का दीपक बुझ गया तभी मैं वहां से हटी। वह रात्रि मैंने निकट के देवमन्दिर में काटी।

अब मेरे सम्मुख जीविका की समस्या थी। अभिभावकों के बिना मुझे कुछ न कुछ साधन खोजना था। अन्ततः एक धनिक के शिशु की परिचारिका का स्थान मुझे मिला। प्रत्येक संध्या को मैं नियमपूर्वक तुम्हारी ओर जाती। वातायन का वह प्रकाश मेरे जीवन–दीप के स्नेह

के समान था। दीप बुझ जाता, कपाट बंद होकर कहते, "तू जा,—तू जा" तभी मैं वहां से हटती। अभी तक तुम्हारा दर्शन न हो सका था। मेरी आतुरता बढ़ती गई। एक दिन एकाएक तुम राजमार्ग पर जाते दिखाई दिए। एक क्षण में मैं फिर बालिका, १३ वर्ष की कन्या बन गई! मेरे कपोल आरक्त हो उठे। यद्यपि इस दृष्टि की मैं वर्षों से भूखी थी, परन्तु अवसर आने पर तुम्हारी वह ज्वलन्त ज्योति न सहन कर सकी। हर्ष मिश्रित लज्जा से मेरे नेत्र झुक गए। मैं शीघ्रता पूर्वक वहां से हट गई। पश्चात् मुझे अपनी मूर्खता पर दुःख हुआ, मैं झुंझला उठी। अब मुझे ज्ञात हो गया था कि मुझे किस वस्तु की आवश्यकता है। मैं प्रणय—बन्धन में आबद्ध होना चाहती थी। चाहती थी कि इन बीहड़ वर्षों के पश्चात् तुम मुझे पहिचानो, अपने निकट स्थान दो।

आतप, ग्रीष्म, वर्षा, कोई भी मेरे दैनिक कार्य में व्यतिक्रम न डाल सका। कितनी संध्याएँ मैंने मार्ग के गहरे कर्दम में खड़े होकर काटी है, कितनी बार मुझे वर्षा में भीगते आना पड़ा है, मुझे भली भांति स्मरण हैं। बहुत दिनों तक तुमने मेरी ओर ध्यान नहीं दिया, मेरी प्रतीक्षा व्यर्थ गई। कभी कभी तुम अपने मित्रों के साथ भवन से निकलते दिखाई देते। दो बार मैंने तुम्हें स्त्रियों के साथ

देखा। मेरे हृदय में एक तीर सा चुभ गया। यद्यपि वह मुझे कोई नया अनुभव न था, मैं बचपन से ही इन आगंतुकाओं को देखने की अभ्यस्त हो गई थी। परन्तु अब तो यह दृश्य मुझे क्रोध, ईर्ष्या से पागल कर देते। मेरे हृदय में एक टीस, एक वेदना का प्रादुर्भाव होता। मुझमें एक प्रतिहिंसा की भावना उदित होती। एक दिन तो इसी क्षोभ और निराशा के वशीभूत हो मैं तुम्हारी ओर न गई। दो रात और दो दिन अन्यमनस्क रही। स्वामिनी ने कई बार भर्त्सना दी। मुझे ज्ञात न था कि यह भावना, यह मान झूठा था, यह उपेक्षा कृत्रिम थी। तुमसे दूर रहना मेरे लिए असंभव था। सायंकाल को मैं फिर यथा-पूर्व तुम्हारे भवन के निकट खड़ी थी—अकिंचन, विस्मृत।

आज मुझे वह शुभ घड़ी नसीब हुई जब तुमने मुझे देखा। इस बार मैंने निश्चय किया कि तुम्हारे सम्मुख से न हटूँगी। तुम भवन से निकलकर कहीं जा रहे थे। मार्ग अवरूद्ध होने के कारण तुम मेरे बहुत निकट आ गए। मेरे नेत्र तुम्हारे नेत्रों से मिले। यद्यपि तुम उनका आवाहन उनकी याचना न पढ़ सके, फिर भी क्षणमात्र को तुम्हारी दृष्टि मुझपर ठहरी—वह दृष्टि जिससे मैं खूब परिचित थी, जिसने वर्षों पहले मुझमें प्रेमिका को जाग्रत किया था, जो विद्युत के तुल्य बेधक, सम्मोहक थी। एक क्षण तुम

ठिठके, फिर आगे बढ़ गए। मेरे हृदय का स्पन्दन कई गुना तीव्र हो उठा। मेरी गति बरबस मंद हो गई। मैंने पीछे घूम कर देखा, तुम मुझे घूर रहे थे। तुम्हारे नेत्रों की जिज्ञासा से स्पष्ट था कि तुमने मुझे नहीं पहिचाना। कितनी निराशा हुई थी मुझे! और यह तो केवल प्रथम ही निराशा थी। मेरे भाग्य में तो जीवन भर तुमसे अपरिचित रहना था। तुमसे दूर ही अपना जीवन समाप्त करना था।

नाना प्रकार के भाव हृदय में उठते। कल्पना मुझे आशा और निराशा के हिंडोले में दोलित करती। निराश क्षणों में मैं विचारती कि तुम मुझसे घृणा करोगे। मेरी सरलता, आग्रहशीलता से ऊबकर मुझसे दूर भागोगे। मुझे मिलेगी केवल शुष्कता, उदासीनता, प्रताड़ना। परन्तु तुम मेरे अस्तित्व से भी अपरिचित रहोगे, यह मैं असीम निराशा में भी न सोच सकी। (तुमसे ही मैंने सीखा है) पुरुष स्त्री की आकृति सहज ही भूल जाता है क्योंकि वह अस्थिर होती है, दर्पण के प्रतिबिंब के समान। ज्ञान तथा आयु की वृद्धि के साथ स्त्री की रेखाएँ और मुद्राएँ बदलती रहती हैं। धीरे धीरे उसमें समर्पण का भाव आ जाता है। परन्तु उस आयु में तुम्हारी विस्मृति मुझे विलक्षण लगी। जब से मुझे संसार का ज्ञान हुआ, मेरा मस्तिष्क तुम्हारे विचारों से ही परिपूर्ण था। अतएव मुझे यह

भ्रांति हो गई कि तुम भी बहुधा मेरे विषय में सोचते होंगे। मुझसे मिलने को तुम इतने ही आतुर और उत्कंठित होगे जितनी मैं। यदि जान पाती कि मैं तुम्हारे लिए नगण्य हूँ, मेरा तुम्हारी स्मृति में कोई स्थान नहीं तो मेरा जीवन ही भार हो जाता। उस सायंकाल की दृष्टि से ही मुझे प्रथम बार ज्ञान हुआ कि क्षीणतम तंतु से भी मेरा और तुम्हारा जीवन संलग्न नहीं है। क्रूर भाग्य की एक झांकी मुझे उसी क्षण मिली।

कुछ दिन बाद हम फिर मिले। इस बार तुम्हारी दृष्टि में कुछ आत्मीयता थी। यह आत्मीयता १३ वर्ष की उस कन्या के प्रति न थी जिसमें तुमने स्त्री को जन्म दिया था। यह भावना तो अठारह वर्ष की उस तरुणी के प्रति थी जो कई दिन प्रथम तुम्हें उसी स्थल पर दृष्टिगोचर हुई थी। तुम्हारे नेत्रों में आश्चर्यमिश्रित नैकट्य, कौतूहल पूर्ण जिज्ञासा थी। जीवन में प्रथम बार तुम्हें मेरे अस्तित्व का भान हुआ। तुम्हारे होठों पर एक मदिर मुस्कान खेल रही थी। तुम मेरे समीप से निकल गए और तुमने अपनी गति धीमी कर दी। मैं सिहर उठी, हर्षातिरेक से विभोर हो उठी—"ईश्वर! तुम मुझ से बोलो, बोलो।" मेरे पग भी धीमे हुए। तुम्हारी पदचाप मेरी ओर आती सुनाई दी। आशा हुई कि तुम्हारा शब्द शीघ्र ही सुनने का सौभाग्य

प्राप्त होगा। मेरे मेरू–दंड में सुख का कंपन दौड़ गया, हृदय का स्पंदन तीव्र हो उठा। मैं बरबस खड़ी हो गई। तुम मेरे पार्श्व में थे, मुझे अभिवादन कर रहे थे–चिर परिचित की भांति, यद्यपि मुझे ज्ञात था कि तुम मुझे जानते भी न थे, मेरे जीवन से सर्वथा अनभिज्ञ थे। तुम्हार वार्तालाप की शैली इतनी सरल, इतनी आकर्षक थी कि मैं निःसंकोच तुमसे घुल मिल गई। हम लोग धीरे धीरे चल रहे थे। तुम्हारे सामीप्य और संलाप से मैं इतनी विभोर थी कि बोलने का मुझे अवकाश ही न था। मेरे अल्प भाषण से तुम अवश्य विस्मित हुए होगे। मैं तो तुम्हारा एक एक शब्द सुन नहीं, श्रवणों से पान कर रही थी।

"संभवतः अभी आपने भोजन नहीं किया है", तुमने पूंछा।

"जी नहीं", कंठ-स्वर पर पूरा संयम करके मेरा छोटा-सा उत्तर था।

"क्या मेरे भवन में पधारने में आपको आपत्ति होगी?"

मैं कैसे कहती कि इस शुभ घड़ी की तो मैं वर्षों से प्रतीक्षा कर रही थी। संसार में ऐसा क्या था जो मैं तुम्हारे अंगुलि–निर्देश मात्र पर न कर डालती।

आज मेरे जन्म जन्म की साध पूरी हो रही थी। मैं

तुम्हारे साथ सीढ़ियों पर चढ़ रही थी, भवन में प्रवेश कर रही थी। दासी को दो थालों में भोजन लाने की आज्ञा दे तुम फिर वार्तालाप में संलग्न हो गए। यह सब तो तुम्हारी दिनचर्या का ही एक भाग था। तुम्हारे लिए मैं कौन थी? असंख्य में से एक। अनंत माला की एक मणि मात्र। परंतु मैं इन अमूल्य क्षणों को कैसे विस्मरण कर सकती हूँ? मेरी तपस्या आज सफल हुई थी। मैं वहाँ के वातावरण में तन्मय हो रही थी। अनर्गल शब्द बोलकर व्यर्थ के प्रश्न पूंछकर मैं एक क्षण भी नष्ट करना नहीं चाहती थी। मैं सदैव आभारी रहूंगी उस समय के लिए। तुमने मेरे प्रति जो अनुराग, आदर प्रदर्शित किया, मैं उसके लिए चिर कृतज्ञ ही रहूंगी। जिस युक्ति से तुम शनैः शनैः मेरे अंतर में उतर रहे थे, वह सदा स्मरण रखने की वस्तु है। न असाधारण उत्सुकता, न प्रेम-प्रदर्शन की विह्वलता। तुमने धीरे धीरे इस प्रकार नैकट्य की भावना और विश्वास जाग्रत किया कि यदि मैं पूर्वानुरक्ता न होती, तब भी तुम्हारे चरणों में अपने को समर्पण करके धन्य होती।

भोजन समाप्त हुआ। दासी थाल ले गई। रात्रि अधिक हो चली। उद्यान से मल्लिका, रजनीगंधा की भीनी सुगंधि चारों ओर फैल रही थी। कर-पात्र से हाथ

धो भोजन गृह से निकले। तुमने पूछा कि मेरे पास कुछ और समय है क्या? मैं कैसे कहती कि आज तो मेरी कल्पना साकार हो उठी है, मुझे और क्या काम हो सकता है? तनिक दुविधा के पश्चात् तुमने शयन-कक्ष की ओर इंगित किया। मेरी आंखें तुम्हारी आंखों से मिलीं। मेरी दृष्टि में संकोच अथवा लज्जा न थी। मैं तुम्हारे साथ बढ़ी। तुम्हें आश्चर्य हुआ—किस बात का यह मैं उस समय न समझ सकी। आज मैं उस भाव को भलीभांति समझ सकती हूँ। अनुभव ने मुझे सिखा दिया है कि स्त्री यदि समर्पण करना भी चाहती है, तब भी पहले पहल विमुखता, अनिच्छा प्रदर्शित करती है और दिखलाती है पुरुष को एक मनहरण हलका सा क्रोध। उसे तो प्रार्थना, अनुनय, विनय, शपथों, असत्य प्रतिज्ञाओं से ही स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है। केवल निम्नतम कोटि की स्त्रियां अथवा सरला बालिकाएँ ही एकदम अपना समर्पण करने को उद्यत हो उठती हैं। तुम कैसे जान पाते कि मेरी यह निःसंकोचता केवल शाश्वत प्रेम, सहस्रों दिवसों की संचित इच्छा का ही परिणाम है! कुछ भी हो, मेरे व्यवहार ने तुम्हारे कौतूहल की वृद्धि की। तुम मुझ में कुछ रस लेने लगे, कुछ नवीनता पाने लगे। तुमने यह अवश्य अनुभव किया कि इस सौम्य बाला में कुछ विशेषता

है। यह सुंदर सुशील मुग्धा कुछ न कुछ रहस्य छिपाए है। प्रतीत हुआ कि तुम उस रहस्य तक पहुँचने की चेष्टा कर रहे हो। मैं इस अमूल्य रहस्य को कैसे खुलने देती? मैंने तुम्हारे सब प्रश्नों का उत्तर टाल्मटोल में दिया। तुम मेरा रहस्य, अपनी अपरिचित प्रेमिका का रहस्य उसके पास होने पर भी न जान सके।

तुम्हारे शयन-गृह में पहुँचना मेरे लिए कितने महत्व का था, तुम क्या जानो? मैं प्रसन्नता से पागल हो गई। वह सुख-रात्रि याद करके आज भी मेरे नयन अश्रु-प्लावित हो जाते पर आज आंसू कहां? वह तो पुत्र की वियोगाग्नि में वाष्प बनकर उड़ गए हैं। तुम्हारे गृह की प्रत्येक वस्तु मेरी उर्मि में सनी है। वह द्वार जिसके पीछे मैंने घंटों तुम्हारी प्रतीक्षा की, वह छिद्र जिसमें से बहुधा तुम्हें देखने का प्रयास किया, वह भवन जिसमें मेरे बचपन के स्वप्नों का जाल बुना गया था-यह सब मेरे हृदय में एक तूफ़ान उठा रहे थे। मेरे स्वप्न पूरे होने जा रहे थे। मैं तुम्हारे शयन-गृह में प्रवेश कर रही थी।

वह रात्रि मैंने वहीं बिताई। विश्वास करोगे क्या कि तुम से प्रथम मेरे शरीर का स्पर्श किसी भी पुरुष ने नहीं किया था? तुम यह कैसे मानोगे? मैंने तो तुम्हें सर्वस्व अर्पण करने में किंचित मात्र भी लज्जा न की थी।

सोचा कि लज्जा प्रदर्शन से तुम शंकित न हो उठो। मैं भली प्रकार जानती हूँ कि तुम वही प्राप्त करने में उद्योगशील होते हो जो सरलता से तुम्हारे जीवन में आ सके। तुम निःसन्देह किसी और के भविष्य के साथ अपना भविष्य बांधने में संकोच करते। तुम स्वच्छन्दता पूर्वक औरों को समर्पण करने में तत्पर रहते हो, परन्तु आत्म–त्याग तुम्हारे वश की बात नहीं। तुम्हारे विचार केवल अपने तक ही सीमित हैं। मैंने शुद्ध अन्तःकरण से अपना कौमार्य तुम्हारे चरणों में रक्खा था। तुमने मुझे कोई प्रलोभन नहीं दिया, धोखा नहीं दिया। मैं स्वयं अपने भाग्य से मिलने तुम्हारे बाहुपाश में दौड़ी। तुम इसका कुछ और अर्थ न लगाना प्राण! मैं तुम्हारे ऊपर कोई दोषारोपण नहीं कर रही। उस आदन्दमयी रात्रि के लिए मेरे पास केवल हार्दिक धन्यवाद ही है। उस प्रथम चुंबन के लिए मैं तुम्हारी सदैव आभारी रहूँगी। मुझे उस रात्रि के समर्पण के लिए आज भी पश्चाताप, परिताप नहीं है। रात्रि के अंधकार में मेरी आंख खुली। आलिंगन पाश ढीला हो चुका था। तुम्हारा उष्ण श्वांस मेरे कपोलों पर खेल रहा था। कितना सुख था, कितना कंपन था। काश, निशा समाप्त ही न होती, प्रभात, मध्यान्ह या संध्या का आगमन ही न होता।

ऊषा के धुंधले प्रकाश में मैं शीघ्र ही चली गई। मैं क्षुद्रक की दृष्टि से बचना चाहती थी। विदा के समय तुमने मेरे स्कंधों पर हाथ रक्खे, मेरी ओर एकाग्र दृष्टि से देखा। क्या तुम्हारे मस्तिष्क के किसी कोने में कोई पुरानी स्मृति अंगड़ाई ले रही थी अथवा केवल प्रसन्नता से खिला मेरा मुख ही तुम्हें आकर्षित कर रहा था? तुम कुछ झुके, मेरे अधर ऊपर उठे और एक मधुर चुंबन। आलिंगन-पाश में हम न जाने कितने युगों तक रहे। चलते समय तुमने मुझ पुष्प-पात्र में से कुछ श्वेत पाटल पुष्प दिए। कितने ही दिनों तक मैं उन्हें सम्हाल कर संचित किए रही।

हम फिर मिले। फिर आनन्द और उल्लास भरी एक रात्रि। कुछ दिन पश्चात् तुमने एक तीसरी रात्रि भी मुझे दी। शायद और भी अवसर आते, पर तुम्हें तो बाहर जाना था। बचपन से ही तुम्हारी इन यात्राओं से मैं दुखित थी। तुमने लौटने पर मुझे सूचना देने का प्रण किया। विदा समय फिर तुमने पुष्प दिए।

एक एक करके दिन बीतते गए और मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करती रही··· नहीं, मैं अपनी निराशा का वर्णन तुमसे न करूंगी। मैं तो प्यार करती हूँ तुम्हें, तुम जैसे भी हो, अनुरागी परन्तु विस्मरणशील, उदार परन्तु असं-

यमी। दो मास क्या, तुम तो पहले ही लौट चुके थे, परन्तु तुमने मुझे सूचित नहीं किया। जीवन की इस अन्तिम बेला में मेरे पास तुम्हारा एक भी प्रेम पत्र नहीं, तुम्हारी लेखनी से एक भी पंक्ति नहीं। मैं निरर्थक प्रतीक्षा करती रही, करती रही।

मेरा पुत्र—वह तुम्हारा भी था कल चला गया। वह उन्हीं तीन रात्रियों का बालक था। मुझे किसी दूसरे पुरुष का स्पर्श भी अभिलाष्य न था। कहीं तुम्हारे आलिंगन से अभिसिक्त मेरा शरीर अपवित्र न हो जाय? प्राण! वह बालक हमारा, मेरे पूर्ण जागृत निश्छल प्रेम तथा तुम्हारी अपव्ययी वासना, पूर्ण कोमलता का पुत्र था—हमारा शिशु, हमारा पुत्र, हमारी एक मात्र संतान। कदाचित् तुम आश्चर्य करो कि मैंने तुम से इस विषय में अब तक कुछ भी कहने की चेष्टा नहीं की और इतने वर्षों के मौन के पश्चात् आज तुम्हें बतला रही हूं जब वह महानिद्रा में सो रहा है, जब वह हमारी पहुंच से बाहर हो गया है। मैं तुमसे कहती भी कैसे? मैं एक अपरिचित थी, एक मुग्धा जो इंगित मात्र पर तुम्हारे साथ तीन रात्रि व्यतीत करने को बहुत उत्सुक रही थी। तुम कभी विश्वास न करते कि राजपथ पर मिली एक अपरिचित, शायद अविश्वसनीय युवती तुम्हारे प्रति स्वामिभक्त रही थी। तुम शंकित हृदय

से ही उसे अपने पुत्र के रूप में स्वीकार करते। यदि तुम मेरे शब्दों पर विश्वास भी कर लेते, शंका की एक धुंधली छाया तुम्हारे मानस पटल पर अवश्य रहती कि कहीं मैंने किसी दूसरे प्रेमी के पुत्र का भार तो तुम्हारे—एक धनिक के कंधों पर नहीं लाद दिया है। अपने और तुम्हारे मध्य अविश्वास की इस अदृश्य भित्ति को मैं कैसे सहन कर सकती? और फिर तुम्हारे चरित्र का मैं पूर्ण रूप से अध्ययन कर चुकी हूँ। शायद तुम स्वयं अपने विषय में इतना नहीं जानते। तुम तो सदैव चिंतामुक्त, बंधनहीन, स्वच्छंद रहना पसंद करते हो। प्रेम का तुम्हारे कोष में अर्थ नित नवीन फूलों का रस चूसना और फिर भूल जाना ही है। एक दम पिता के पद पर पहुंच जाना, एक बालक का भाग्य विधाता बनना तुम्हें भार हो उठता। स्वतंत्रता तुम्हारा जीवन है और मुझे तुम एक बंधन के रूप में पाते। जब यह भार असह्य हो उठता, जब इस वायुमंडल में तुम्हारा दम घुटने लगता, तो कमसे कम एक क्षण के लिए तो तुम्हारे अंतर में मुझसे छुटकारा पाने की भावना जागृत होती ही। मुझ गर्विष्ठा का हृदय इसे कब सहन कर सकता था? मैंने निश्चित कर लिया था कि जीवनभर मैं तुम्हारे लिए भार अथवा उद्विग्नता का कारण न बनूंगी। संपूर्ण उत्तरदायित्व मैं स्वयं वहन करूंगी। मैं अपना स्थान उन अगणित स्त्रियों में

ही रखना चाहती थी जिनके विषय में तुम केवल प्रेम और आभार पूर्वक ही विचार करते। और वास्तव में तुमने मेरे विषय में विचार ही नहीं किया। मैं तुम्हारी स्मृति में स्थान ही कहां पा सकती हूँ? तुम मुझे जानते ही कहां हो, फिर मेरे बारे में सोचोगे ही कहां से? मैं विस्मृत हो चुकी थी।

मैं तुम्हें दोष नहीं देती। मुझे तुमसे कोई शिकवा नहीं। मुझे क्षमा करना स्वामी! यदि एक क्षण को भी मेरी लेखनी में तुम्हें कटुता का आभास हो। क्षमा करना, क्योंकि हमारा पुत्र टिमटिमाते दीपक के प्रकाश में चिर निद्रा में सो रहा है। मेरा दुख सीमा को पार गया है, क्षोभ से मेरा वक्ष फटा जा रहा है। इस असहायावस्था में मैंने ईश्वर को अपने पुत्र का घातक कहा है। मेरी आत्मा ईश्वर के प्रति भी विद्रोह कर उठी है। मैं जानती हूँ कि तुम सहायता को सदैव तत्पर रहते हो, भावुक हो, कोमल हृदय हो। तुम निपट अपरिचित के याचना के एक शब्द पर ही सब कुछ देने को उद्यत रहते हो। कोई भी तुम से इतना ले सकता है जितना सम्हाल सके। फिर भी तुम्हारी दया विचित्र है। वह दीर्घसूत्री है। तुमसे तो याचना ही करनी पड़े। तुम उसे ही सहायता करते हो जो तुम्हारे सम्मुख हाथ पसारे।

तुम लज्जा, दुर्बलता के वशीभूत होकर ही दान करते हो, दयावश होकर नहीं। सत्य तो यह है कि तुम्हें सुखी और दुःखी में कुछ अंतर ही नहीं प्रतीत होता। मुझे भली भांति स्मरण है कि एक भिक्षुक को तुमने उसके एक शब्द उच्चारण करने से प्रथम ही कुछ देकर विदा किया। तुम उससे छुटकारा पाने के हेतु ही दे रहे थे, तुम उसकी दृष्टि से भी बचना चाहते थे। वह भीरुता, आकुलता मैं इतने वर्षों के पश्चात् भी भूल नहीं सकी हूँ। फिर मैं किस प्रकार तुम्हारे साहाय्य की आशा करती? मुझे ज्ञात है कि यद्यपि तुम इस शिशु के प्रति शंका करते फिर भी मुझे विपुल धन, अभिलाषित सुख देने में तनिक भी संकोच न करते। परंतु तुम्हारे हृदय में इस सौहार्द्र के पीछे एक अकुलाहट, मुझसे छुटकारा पाने की भावना सदैव विद्यमान रहती। तुमने तो कदाचित् इस भ्रूण को नष्ट करने की सम्मति भी दी होती मुझे। सब से अधिक भय मुझे इसी का था, क्योंकि तुम्हारे आदर्श के विरुद्ध जाना मेरे लिए स्वप्न में भी असंभव होता। यह बालक तो मेरा जीवन सर्वस्व था। वह तुम्हारा था, तुम्हारी नवजात प्रतिमा स्वरूप—तुम्हारा अल्हड़ और स्वच्छंद रूप नहीं जिसे मैं बंदी बनाने में असमर्थ रही हूँ, वरन् वह रूप जो केवल मेरे लिए ही था, मेरे रक्त और मांस का

ही एक भाग, मेरा जीवन-तंतु रुप। तुम मेरे बंदी थे। अब तुम मुझ से नहीं भाग सकते थे। तुम मेरे हो चुके थे। तुम्हारा जीवन-रक्त मेरे शरीर में प्रवाहित हो रहा था। तुम्हारा बालक मेरे रक्त से पोषित हो रहा है—यह भाव मुझे इतना आनंद दे रहा था कि मैंने तुमसे उसे बांटना उचित न समझा।

परंतु यह न समझ लेना प्रिय! कि यह दिवस उतने सुखद थे जैसी मैंने कल्पना कर डाली थी। यह लंबी अवधि दुःख और चिंता के भार से दबी मनुष्य जाति के प्रति विद्रोह की भावना से परिपूर्ण निकली। गर्भ चिन्ह प्रस्फुट होने के साथ स्त्री के मुख पर एक विचित्र कांति आ जाती है। यदि तुमने इस समय मुझे देखा होता तो कारण जाने बिना भी अवश्य मेरी ओर विशेष-रूप से आकृष्ट हुए होते। यह सब तुम्हारे सम्मुख प्रदर्शित करने की एक दुर्दमनीय भावना जाग्रत होती थी, परंतु स्वाभिमान उसे तुरंत दबा लेता। इस अवस्था में स्त्री की साधारण इच्छाएँ भी तीव्र हो उठती हैं। परंतु तुम मुझ से दूर थे, बहुत दूर। अणु अणु में प्रसरित मिलन की अतृप्त तृष्णा अतृप्त ही रही। जीवन के इन अमूल्य क्षणों में ही स्त्री अपने पुरुष के दुलार, उसके संरक्षण से वंचित रही।

शरीर में व्यक्त होते परिवर्तन के कारण लांछन का भय था। अतएव प्रसवकाल आने पर मुझे स्वामिनी का घर छोड़ना पड़ा। जनरव में निकल पड़ी एकाकी, विपन्न, असहाय—अंचल में केवल दस पांच रौप्य मुद्राएँ, नेत्रों में विपुल जल और शिर पर गुरु उत्तरदायित्व का भार लिए। अंधकारमय भविष्य मुँह फाड़े मेरे सम्मुख खड़ा था। जीविकोपार्जन का कुछ साधन था नहीं। निम्न श्रेणी के कर्मकरों की जीर्ण शीर्ण झोंपड़ियों में आश्रय लिया। धन समाप्त होने पर शरीर के आभूषणों से जीवन यापन होने लगा और उसके पश्चात् सदाशयों की ही शरण लेनी पड़ी। अतुल धनराशि के स्वामी, सर्वश्रेष्ठ कवि के पुत्र की माता, नगर के दूषित वायुमंडल में, दारिद्र्य की छाया में अपना समय काटने लगी।

ऐसे स्थान में तुम्हारे पुत्र ने संसार में पदार्पण किया। अभाव, दुख, निराशा के वातावरण में उसने प्रकाश की प्रथम किरण देखी। इन शब्दों के लिए क्षमा करना, स्वामी, मैं फिर कुछ न कहूँगी। ग्यारह वर्ष पर्यन्त मैं मूक रही हूँ और शीघ्र ही सदैव के लिए मूक हो जाऊँगी। एक बार, केवल एक बार, मुझे कह लेने दो कि कितना मूल्य देना पड़ा था मुझे इस शिशु के लिए। मनुष्य स्वभाव भी कैसा विचित्र है ? वह अग्नि के शोलों में शीत-

लता, हलाहल में मधुरता ढूंढ़ लेता है। वह असह्य पीड़ा, वह भयानक वेदना मैं उसकी एक मुस्कान में भूल गई। मै उसकी तोतली बोली, उसकी अटपटी भाषा में अपना सब दुख भुला बैठी। अब जब वह चला गया है, मैं फिर नीरवता के अंधेरे गर्त में आ पड़ी हूँ। परन्तु मैं तुम्हें दोष नहीं देती। मैं तो ईश्वर को दोष देती हूँ जिसने यह अकारण वेदना, यह अर्थहीन अध्याय मेरे जीवन में रक्खा। मैंने तुम्हारे प्रति एक क्षण भी रोष नहीं किया। प्रसव-वेदना की वीभत्स घड़ियों में तुम्हें एक भी दुःशब्द नहीं कहा। तुम्हारे पर्यङ्क पर व्यतीत रात्रियों के लिए मुझे परिताप नहीं। मैं तो उस घड़ी को धन्य समझती हूँ जब तुम मेरे जीवन में आए। यदि उन क्षणों के लिए मुझे जीवन भर रौरव नरक में भी रहना पड़े तो मैं एक बार नहीं, सहस्र बार प्रस्तुत हूँ।

अपना पुत्र कल चला गया और तुम्हें इसका समाचार तक न मिला। उसका नन्हा सा ज्वलन्त व्यक्तित्व एक क्षण को भी तुम्हारे सन्मुख न आया। उसके जन्म के पश्चात् बहुत काल तक मैं तुमसे दूर रही। तुम्हारे लिए मेरी चिंता, आकुलता कम होती गई। उसका स्नेह-वारि विरहाग्नि को शीतल करता। मैं उसे दुलराती, झुलाती, उसके साथ खेलती। मैं अपने प्रेम को तुम्हारे और उसके

बीच विभाजित करना नहीं चाहती थी। तुमतो स्वाधीन थे, मेरी चिंता से मुक्त, परन्तु उसे एकमात्र आश्रय मेरा ही था। तुम्हारे प्रति मेरा कामना, मेरी आकर्षण मर गया प्रतीत होता था। शिशु रूप में तुम्हारे मिल जाने से मेरा वियोग जन्य दुःख नष्ट हो चुका था। अब तो शायद ही कभी तुम्हारी याद आती। केवल एक बार-तुम्हारे प्रत्येक जन्म दिवस पर—मैं तुम्हें पुष्प भेजती, पाटल पुष्प, वैसे ही श्वेत जैसे तुमने प्रथम मिलन पर मुझे दिए थे। सच बतलाना, क्या इन दश—ग्यारह वर्षों में तुम्हें कभी कौतूहल भी हुआ है कि इन्हें कौन भेजता है? क्या कभी तुम्हें याद आई है कि तुमने ऐसे पुष्प किसी बाला को दिए थे? मुझे उत्तर की आकांक्षा नहीं। मुझे तो यही यथेष्ट है कि अंधकार में से उन्हें भेजती रहूँ, बस। प्रति वर्ष एक बार उस सुखद घड़ी की स्मृति ताजी करना ही मुझे पर्याप्त है।

तुम्हारे पुत्र को तुमसे छिपा कर रखने का दोष मेरा है। कभी विचार आता है कि यदि तुम देखते तो शायद उससे प्रेम करते। प्रतिमूर्ति था वह तुम्हारी—नासिका वैसी ही उन्नत, ललाट वैसा ही प्रशस्त, वर्ण वैसा ही उज्ज्वल। तुमने निद्रा से उठते उसकी मधुर मुस्कान नहीं देखी, चारों ओर एक मनमोहक पराग बखेर देती। जब वह

अपनी विशाल अलस आंखें खोलता—आंखें जो तुम्हारी ही थीं, मेरे सोये हुए स्वप्न जाग उठते, मेरे खोए हुए क्षण फिर लौट आते। तुम्हारी चंचलता, बुद्धिमत्ता का आभास उसमें था। तुम जीवन के साथ खेलते हो, वह घड़ियों अपने खिलौने के साथ खेलता। आयु के साथ तुम्हारे गुण उसमें प्रस्फुटित होने लगे। कौतुक और अदम्य उत्साह उसमें साफ दृष्टिगोचर होने प्रारंभ हुए। जितना अधिक वह तुम्हारे सादृश्य होता जाता था, मेरा स्नेह बढ़ता जाता था। विद्यानुराग उसमें अत्यधिक था। आयु के प्रमाण से उसमें अधिक ज्ञान था। उसके चेहरे पर एक ऐसा आकर्षण, बड़ी बड़ी आखों में एक ऐसी सुषमा थी कि देखने वाले उसकी ओर आकर्षित हुए बिना न रहते। जब कभी सायंकाल को उसके साथ मैं उद्यान में घूमने निकलती, स्त्रियां उसे बरबस अंक में ले उसका चुंबन लेतीं, उसके कोमल पिंगल केशों में हाथ फेर कर आगे बढ़तीं। पिछले वर्ष ही आचार्य वेदव्रत की शाला में उसे भेजा था। पीत वस्त्रों में उस नन्हें से ब्रह्मचारी को काश तुम एक बार देख पाते!

तुम आश्चर्य करोगे कि मैं उसके ऊपर इतना व्यय कैसे कर सकी, धनिक शिशुओं के संसार में उसे कैसे प्रविष्ट कर सकी। मृत्यु शैया पर मैं तुमसे कुछ नहीं छिपाऊंगी।

निःसंकोच सब कह डालूंगी। मैं नर्त्तकी बनी। धनिक समुदाय में उतर पड़ी। शीघ्र ही मुझे ख्याति मिली। लोग कहते थे मैं सुंदर थी (कभी तुमने भी अनुभव किया है?)। मेरे संपर्क में आने वाले मेरे प्रशंसक, भक्त बन जाते। वे मुझसे प्रेम प्रदर्शित करते, मेरे एक इंगित पर सब कुछ करने को उद्यत रहते। केवल तुम्हीं उदासीन रहे, तुम, जिन्हें मैं प्रेम करती हूँ।

मेरा रहस्य जानकर मुझे धिक्कारोगे, मेरा तिरस्कार करोगे। नहीं, मुझे विश्वास है कि तुम सब कुछ समझ जाओगे, विश्वास करोगे कि यह सब तुम्हारे ही लिए, तुम्हारे दूसरे शरीर के लिए, तुम्हारे पुत्र के लिए किया था। प्रसव-काल में मुझे दारिद्र्य के दर्शन हो चुके थे। मैंने देख लिया था कि पददलित दीन मनुष्यों का इस संसार में स्थान नहीं। इस कल्पना से ही मैं कांप उठती कि तुम्हारा पुत्र, तुम्हारा सुकुमार शिशु मार्ग के धूलि धूसरित, असभ्य बालकों में पोषित हो, दूषित वातावरण में बढ़े, उसके कोमल होठ गंदी भाषा बोलें या उसकी स्निग्ध त्वचा मोटे वस्त्र स्पर्श करे। मेरी एकमात्र इच्छा यही थी कि तुम्हारे पुत्र को प्रत्येक क्षेत्र में सर्वोत्तम वस्तुएँ सुलभ हों, संसार का वैभव तथा ऐश्वर्य वह भोगे, उसे वही सांस्कारिक, संपन्न, सुसंस्कृत वातावरण मिले जिसके

तुम अभ्यस्त हो, वह तुम्हारे ही समाज का एक सदस्य बन सके।

मेरे लिए यह कोई महान त्याग न था क्योंकि संसार में जिसे यश, अपयश कहते हैं, उसमें मैं विश्वास न करती थी। लोक लाज मुझे स्पर्श भी न कर सकी थी। तुम्हारे लिए मैंने मां को छोड़ा, परिचारिका बनी, फिर तुम्हारे पुत्र के लिए नर्त्तकी बनने में क्या संकोच ? उस अधिकार को अक्षुण रखकर यह अर्थहीन था कि धनोपार्जन के लिए मैं क्या साधन अपनाऊँ।

प्रणय–पिपासाकुल सामंत, धनी युवक आते। उनका प्रेम प्रदर्शन, उनकी विह्वल याचनाएँ मेरे हृदय-स्तल को छूती भी न थीं; यद्यपि उनमें से बहुत से ऐसे थे जिनका मैं आदर करती थी। मेरे समान उनका प्रेम भी एकांगी था। मुझे तुम्हारा प्रेम प्राप्त न था, उन्हें मेरे प्रेम का प्रोत्साहन न मिला था। मेरा जीवन मेरे प्रेमी के प्रेम से विहीन, उनका जीवन मेरे प्रेम से शून्य। मुझे उनसे सहानुभूति हो उठती।

एक विधुर श्रेष्ठी अधिक आकृष्ट हुए थे मेरी ओर। कई बार उन्होंने विवाह का प्रस्ताव भी किया था। यदि मैं उनकी भार्या बन जाती तो आज उनकी पत्नी कहलाती और उनके भव्य प्रासादों, विशाल संपत्ति,

अतुलित वैभव की स्वामिनी होती। मेरे पुत्र को स्नेही पिता मिलता और मुझे गंभीर, ख्यातिप्राप्त और दयालु पति। परंतु मैं हठ करती रही। मैं स्वच्छंद रहना चाहती थी। हृदय के एक कोने में अब भी बचपन की वह आशा छिपी बैठी थी—कभी किसी समय तुम मेरी ओर आकर्षित हो अपने हृदय में मुझे स्थान दो, मुझे पहिचानो, मेरा आवाहन करो और मैं शिर के बल दौड़ी जाऊँ। जिस दिन से मुझ में नारी जागृत रही है, मेरे जीवन में प्रतीक्षा के अतिरिक्त रहा ही क्या है?

तुम मुझे बहुधा उत्सव—समारोहों में दिखाई पड़ते, बहुधा रंगभूमि, नृत्यशाला में मिलते। सदैव आशा से मेरा हृदय उछलने लगता परंतु सदैव तुम मुझे देखते रह जाते, मेरे समीप से गुज़र जाते—नितांत अपरिचित की भांति। बाह्य आकृति में मुझमें बहुत अंतर आगया था, मेरे व्यक्तित्व में बड़ा परिवर्तन हो गया था। लजीली, कृश बालिका का स्थान लिया था एक युवती ने—लोग कहते थे सुंदर प्रशंसकों से परिवेष्टित, सुंदर वस्त्रालंकारों से सज्जित! मुझमें तुम अपने मंदप्रकाशित शयन गृह वाली बालिका को कैसे देख पाते? कभी कभी मेरे साथी युवक तुम्हारा अभिवादन करते। तुम प्रत्याभिवादन करते समय मेरी ओर देखते अवश्य परंतु उस दृष्टि में होता एक

दूरत्व, भयंकर दूरत्व, नग्न अपरिचित का भाव, शून्यता।

एक बार तो मुझे यह सब असह्य हो उठा। मैं नाट्यशाला में गई थी। भाग्यवशात् तुम मेरे निकट ही बैठे थे। नाटक आरंभ हुआ। प्रकाश मंद पड़ गया। तुम्हारी आकृति तो स्पष्ट न रही, परंतु तुम इतने निकट बैठे थे कि तुम्हारे श्वास प्रश्वास स्पष्ट सुनाई दे रहे थे। तुम्हारा श्वेत हाथ पीठिका पर मेरे एक दम समीप रक्खा था। मेरे हृदय में एक तीव्र भावना उदित हुई उसे चूमने की, उन तीन रात्रियों के पुराने स्पर्श को अनुभव करने की। रंगमंच से नूपुर, मृदंग, वीणा के स्वर आ रहे थे, मेरे अंतर का बवंडर तीव्रतर हो रहा था। मुझे अपने आपको संपूर्ण शक्ति लगाकर रोकना पड़ा, बरबस अपने ओष्ठ तुम्हारे हाथ से दूर रखने पड़े। यह पीड़ा असह्य हो गई और मैं प्रथम यवनिका से पहले ही उठकर चली गई। मैं सहन न कर सकी कि तुम इतने समीप रहकर भी इतने दूर रहो।

यह घड़ी एक बार, केवल एक बार और आई। एक वर्ष पहले की बात है। तुम्हारा जन्म दिन था। मैं उसे सदैव एक पर्व की भांति मनाती थी। प्रातःकाल ही मैं पुष्पहाट में श्वेत पुष्पों को लेने गई, वही श्वेत पाटल

पुष्प, जो प्रतिवर्ष उन विस्मृत पलों की स्मृति में मैं तुम्हें भेजती रही हूँ। सायंकाल को मुझे को मैं घुमाने ले गई। मैं चाहती थी कि वह इस दिन को सदा महोत्सव की भांति मनाये। मैं प्रतिवर्ष एक दिन के लिए उसे आचार्य के पास से बुला लेती। उस रात्रि हमने एक नाटक देखा। दूसरे दिन मेरा निमंत्रण उपनायक भाद्रिक के यहां था। मेरे नृत्य प्रदर्शन के पश्चात् आसव पान चलने लगा। नृत्यशालाओं की रंगरेलियां अर्ध मत्त स्त्री पुरुषों की भावनाओं का प्रदर्शन मात्र होती हैं। यह कृत्रिम आनंद मुझे भाता न था। मैं सुरा से सदैव बचती रहती थी। परंतु उस दिन मैं एक विचित्र उल्लास और उन्माद का अनुभव कर रही थी। मुझे आश्चर्य है कि उस रात्रि को मैं कैसे स्वयं पान गोष्ठी में सम्मिलित हो गई।

प्याले पर प्याले उड़ रहे थे। युवक और युवतियों की आंखों में मतवालापन था, कपोल रक्तिम हो चले थे। यौवन के कुंज में सौंदर्य क्रीड़ा कर रहा था। आलिंगन प्रत्यालिंगनों में वासना हँस रही थी। मेरे अंतर का आल्हाद, पता नहीं क्यों, हृदय में से उफना पड़ता था। मैंने यौवन-नृत्य का प्रस्ताव रक्खा। मेरे प्रशंसक मेरी छोटी से छोटी इच्छा पूर्ण करने में गर्व मानते थे। मृदंग पर थाप पड़ने ही वाली थी कि अचानक मेरा मुख श्वेत

हो गया, मेरे शरीर में मानों हिम-सिक्त पवन संचार कर गया। कुछ दूर पर तुम बैठे थे—वही ज्वलंत दृष्टि दश वर्ष पश्चात् फिर मेरे ऊपर पड़ी। मेरे हृदय पर मानों किसी ने जलता अंगार रख दिया। मैं अपने को तथा उस जन समुदाय को भूल बैठी। मेरे कांपते हाथों से प्याला गिर पड़ा।

तुम्हारी दृष्टि में एक आवाहन था। क्या तुमने मुझे पहचान लिया था या केवल एक अपरिचित सुंदरी के प्रति ही आकर्षित हुए थे? मादकता मेरे नेत्रों में रंग लाने लगी। तुमने इंगित से मुझे बन्द कोष्ठ में बुलाया। तुम नृत्य शाला से चले गए। जाते समय फिर इंगित किया। मैं पत्ते के समान कांपने लगी। वार्तालाप में मैं असंगत बातें कहने लगी। धमनियों में रक्त का प्रवाह तीव्र हो उठा। सौभाग्य से नृत्य आरम्भ हो गया था। सब लोग उसमें व्यस्त थे। मुझे अवसर मिला। मैं उप-नायक से एक क्षण की क्षमा मांगकर बाहर गई। तुम प्रतीक्षा कर रहे थे। मुझे देखकर तुम्हारा मुख खिल उठा। एक मदिर मुस्कान के साथ तुम मुझसे मिलने आगे बढ़े। तुमने मुझे न पहिचाना—न तो तेरह वर्ष की बालिका को और न अठारह वर्ष की युवती को। मैं तुम्हारे लिए फिर एक नवीन स्त्री थी।

"क्या आपके पास कुछ समय है ?"—तुम्हारे आत्म-विश्वास से स्पष्ट था कि तुमने मुझे एक सामान्या समझा था; एक ऐसी स्त्री जिसे कोई भी एक रात्रि के लिए क्रय कर सकता है।

"हां"—मेरा छोटा सा उत्तर आत्मसमर्पण से पूर्ण था, दस वर्ष पूर्व राजमार्ग पर खड़ी उस अज्ञात यौवना की ही भांति। तुमने तब पूंछा था, "तो कब मिल सकेंगे हम ?" "जब इच्छा हो" मैंने कहा। तुम्हें विस्मय हुआ। शायद सोच रहे थे कि इस स्त्री को जीतना कितना सुगम है ! आज भी एक क्षण के विलम्ब के पश्चात् तुमसे जिज्ञासा की "अभी।" मैं कह रही थी "चलिए।"

लौटकर शाल लाने का समय मुझे न था। पौष की रात्रि में मैं वैसी ही, नृत्य के उन झीने वस्त्रों में चल दी तुम्हारे साथ। उस उच्च अधिकारी का एक क्षण में परित्याग करके तुम्हारे पीछे दौड़ी। समाज में किसी से भी मेरा वैयक्तिक सम्बन्ध न था। भरी नृत्य शाला में से, परिचितों और मित्रों की उपस्थिति में एक नवीन आगुंतक के संकेत मात्र पर चला जाना कितना अपमानजनक था ! मेरी अन्तरात्मा मुझे प्रताड़ित कर रही थी। मेरा यह अभिसार कितना नीचतापूर्ण और हेय था ! इस प्रकार

चल देने का अर्थ था धनहानि, मानहानि। पर मेरा धन, मान, मर्यादा, जीवन मात्र क्या था? क्या उस सबकी तुलना इस एक सुयोग, इस अलभ्य अवसर से हो सकती है जब मैं तुम्हारे अधरों का स्पर्श करूंगी, जब तुम्हारे स्वर का संगीत सुनूंगी! सब कुछ समाप्त हो गया है। अब मैं तुम्हें बता रही हूँ कि कैसा था मेरा प्रेम! एक बार तो मृत्यु-शैया पर से भी तुम्हारे आदेश पर उठकर आने की शक्ति मुझमें रहेगी।

द्वार पर खड़े तुम्हारे रथ में बैठे। मार्ग जन-शून्य हो चला था। तुम्हारे भवन पर पहुँचे। एक बार फिर मैं तुम्हारे पार्श्व में थी, तुम्हारा स्वर सुन रही थी। दस वर्ष पुराने क्षण फिर याद आ रहे थे। तुम्हारे भवन में विशेष परिवर्तन न हुआ था। कुछ चित्र बढ़ गए थे, बहुत सी पुस्तकें और आ गई थीं। शेष सब पूर्व परिचित लगता था। वह श्वेत पुष्प भी थे जो एक दिन पूर्व भेजे थे उस स्त्री ने, जिसे तुमने पहिचाना भी नहीं, तब भी नहीं जब वह तुम्हारे पहलू में थी, जब उसका हाथ तुम्हारे हाथ में था, जब उसके ओष्ठ तम्हारे ओष्ठों पर थे।

मैंने फिर एक रात्रि तुम्हारे साथ व्यतीत की-उल्लास और कंपन में डूबे हुए और दो प्रहर। एक सामाजिक

उत्सव में अचानक मिली नवीना के प्रति तुम प्रेम प्रदर्शन कर रहे थे, उदारता प्रकट कर रहे थे। तुम्हारी दृष्टि में प्रेमिका तथा वेश्या में कोई अन्तर नहीं। तुम्हारे जीवन के पूर्व परिचित दोनों पहलू फिर प्रकट हुए—सुन्दर स्त्रियों में प्रथम मिलन पर ही तन्मय हो जाना और इन क्षणों के बीतने पर भयंकर अमानुषिक विस्मृति में डूब जाना। परन्तु मैं भी स्वयं को भूल बैठी। तुम्हारे समीप अंधकार में लेटी मैं कौन थी? पूर्व वर्षों की मुग्धा, तुम्हारे पुत्र की माता अथवा एक अपरिचिता मात्र! पृथ्वी दूध सी चांदनी में स्नान कर रही थी। आकाश से आल्हाद बरस रहा था। प्रत्येक वस्तु कितनी पुरानी, साथ ही कितनी नवीन लग रही थी। काश, यह आनन्द चिरस्थाई रहता!

परन्तु शीघ्र ही प्रभात आया। हम लोग उठे तब दिन चढ़ आया था। तुमने मुझे कलेवा करने को रोक लिया। पहले की ही भांति तुम वार्तालाप में घुल गए, पहले की ही भांति तुम मेरे विषय में एकदम तटस्थ रहे। तुमने मेरा नाम तक जानने की इच्छा न की। तुमने मेरा स्थान तक न पूंछा। तुम्हारे लिए तो मैं एक स्त्री मात्र थी, एक आकस्मिक घटना मात्र, एक भावुक क्षण जो व्यतीत होने पर अपना छाया-चिन्ह भी नहीं छोड़ता। तुमने कहा कि शीघ्र ही तुम लंबे काल के लिए देशाटन

को जा रहे हो। मेरा मानों मृत्यु-घंट बज उठा। हृदय में शब्द हुआ—विस्मृत! विस्मृत! मेरा मन पुकार उठा मुझे साथ ले चलो, शायद मुझे पहिचान लो, इतने वर्षों पश्चात् ही सही। मैं लज्जालु, भीरु हो पड़ी। केवल एक शब्द निकला "अरे!" तुमने स्मित किया, "क्या तुम्हें दुख हुआ?"

एक क्षण के लिए मैं हतप्रभ हो गई। तुम्हारी ओर निर्निमेष देखते हुए मैंने कहा, "मैं जिस पुरुष से प्रेम करती हूँ वह सदा विदेश ही जाता है।" मेरे नेत्र कह कह रहे थे—अब भी पहिचानो, अब भी पहिचानो। तुमने केवल हँसकर कहा, "कुछ नहीं, जो जाता है वह वापिस भी आता है।" मैंने फिर साहस किया—"हां, परन्तु बीती बातें भूल कर।"

मेरे शब्दों में कुछ वेदना, कुछ कसक अवश्य थी। तुम प्रभावित हुए, उठकर आश्चर्यमिश्रित भावुकता से मेरी ओर देखा। कंधों पर दोनों हाथ रखकर कहा "सुंदर वस्तुएं भूलने के लिए नहीं, मैं तुम्हें नहीं भूलूंगा।" प्रतीत हुआ अंधकार नष्ट हो रहा है, अब पहिचाना, अब पहिचाना। जान पड़ा कि दृष्टि की एकाग्रता से मेरी मूर्ति अपने हृत्पटल पर तुम उतारोगे। आशा सिर उठा नयनों से झांकने लगी।

परंतु तुमने न पहिचाना। मैं अपरिचिता ही रही। तुमने मेरा चुंबन लिया, पूर्व जैसी मादकता से भरा हुआ। अस्त व्यस्त केशों को ठीक करने मैं दर्पण के सम्मुख गई। वहां क्या देखा? तुम पीछे से मेरे अंचल में कुछ स्वर्ण के टुकड़े बांध रहे थे! हृदय क्षोभ और विद्रोह से भर उठा। मैं कठिनता से अपने आंसू रोक सकी। तुम्हें एक धौल जमाने की भावना हुई। तुम अपने साथ व्यतीत रात्रि के लिए धन दे रहे थे, मुझे, अपने पुत्र की माता को, बाल्यकाल से अब तक तुम्हारे पीछे पागल बनी प्रणयिनी को! तुम्हारे लिए तो मैं नृत्यशालामें से चुनी हुई एक वेश्या मात्र थी। मुझे भूल गए, इतना ही यथेष्ट न था; तुमने मुझे धन भी दिया, मुझे लज्जित भी किया! अपमान की यंत्रणा असह्य हो उठी। मैं जाने को घूमी। दृष्टि पुष्पों पर पड़ी। अंतिम प्रयास किया, "इन पुष्पों में से क्या एक पुष्प मुझे दे सकोगे?"

"अवश्य", तुम सबके सब मुझे दे रहे थे।

"परंतु यह शायद भेंट है किसी प्रेमिका की।"

"कदाचित्! भेंट तो यह अवश्य है परंतु किसकी, यह ज्ञात नहीं। इसी कारण यह मुझे और भी प्रिय हैं।"

मैंने अपने नेत्र तुम्हारे नेत्रों में डालते हुए कहा, "संभवतः कोई विस्मृत प्रेयसी है जिसे तुम भूल चुके हो।"

तुम्हारे भाव में कौतूहल था और मेरे नेत्रों में मुझे पहिचानने की नीरव याचना। परंतु तुम्हारा स्मित वैसा ही शुष्क, भावहीन था। तुमने फिर चुंबन लिया, उर्मिमय परंतु नीरस।

मेरे नेत्र पानी में तैर रहे थे। मैं चल दी, दौड़ने लगी, कहीं तुम मेरी विह्वलता लक्ष्य न कर लो। द्वार मार्ग पर मैं तुम्हारे क्षुद्रक से टकराते टकराते बची। उसने घबरा कर द्वार खोल दिया। उस पलायमान क्षण में, जब मेरे सजल नयन उस पर पड़े, उसकी दृष्टि में एक विचित्र चमक आई, उसने, जिसने मुझे बाल्यावस्था से नहीं देखा था, मुझे पहिचान लिया था। मेरा हृदय आभार से भर उठा। झुककर उसका हाथ चूम लेने को जी चाहा। जिन मुद्राओं से तुमने मेरा अपमान किया था, उन्हें खोलकर मैंने उसके हाथों में ठूंस दिया। उसने भयपूर्वक मेरी ओर देखा। इस एक क्षण में उस अपढ़, अनार्य दास ने तुम्हारी अपेक्षा मुझे कहीं अधिक समझ लिया था। मैं चली आई, हृदय पर भार लिए, निराशा के सागर में डूबी हुई। यही हमारा अंतिम मिलन था।

मेरा बालक चला गया। अब कौन है जिसे मैं प्रेम करूँ? तुम्हारे अतिरिक्त संसार में मेरा कौन है? परंतु तुम्हारी दृष्टि में मैं कौन? तुम मुझे पार कर गए, सतत

प्रवाहित निर्झरिणी की भांति। तुम मुझे लांघ गए, मूक प्रस्तरखंड के तुल्य। तुम चलते रहे अपना मार्ग, मेरी किंचिन्मात्र चिंता किए बिना, मेरी ओर दृष्टिपात किए बिना, मुझे अनंत प्रतीक्षा में छोड़कर। जीवन में एक बार प्रतीत हुआ था कि मैंने तुम्हें बंदी कर लिया है। इस शिशु में मैंने तुम्हें ही पा लिया है। परंतु वह भी तो स्वच्छंद पिता का स्वच्छंद पुत्र था। वह भी निर्दयी निकला। मुझे छोड़कर चल दिया अनंत यात्रा की ओर। वह कभी नहीं लौटेगा। मैं फिर एकाकी रह गई, मरुस्थल में खड़े खजूर के समान। तुम्हारा कहने योग्य मेरे समीप कुछ न रहा, न एक स्मृति, न एक शब्द, न एक पत्र और न एक शिशु ही। यदि कोई तुम्हारे सम्मुख मेरा नाम उच्चारण करे, तुम्हें वह नितांत अपरिचित ही होगा। तुम्हारे लिए मैं मृतक तुल्य हूँ, फिर जीवित रहने से क्या लाभ? तुम मेरे जीवन साथी न हो सके, फिर मैं अनजानी पगडंडी पर क्यों न चल दूँ एकाकी?

मैं तुम्हें दोष नहीं देती प्रिय! तुम्हारे तेजोमय जीवन पर मैं अपनी शोक छाया न पड़ने दूँगी। भय न खाना स्वामी! कि मैं तुम्हें कुछ और कष्ट दूंगी। केवल एक बार मेरी जीवन गाथा सुन लो। पुत्र का शव

मेरे समीप पड़ा है। केवल एक बार, अंतिम बार मैं तुम से बोल रही हूँ। इसके पश्चात् मैं अंधकार में विलीन हो जाऊंगी, सदा की भांति मौन धारण कर लूंगी। दुर्भाग्यवश, यदि मैं जीवित रही तो तुम मेरा रुदन भी न सुन सकोगे। मैं दुखमय संसार छोड़ दूंगी तभी तुम्हें यह पत्र मिलेगा—उस स्त्री के उत्तराधिकार स्वरूप जो कड़कते शिशिर में, घनघोर वर्षा में, तपती धूप में राज-मार्ग में तुम्हारी प्रतीक्षा करती रही, अपलक तुम्हें देखती रही हृदय में—व्यर्थ, निरर्थक। इस पत्र को पढ़कर कदाचित तुम मुझे बुला भेजो, शायद तुम आओ। परन्तु जीवन में प्रथमबार मैं निरुत्तर रहूंगी। चिरनिद्रा में तुम्हारा आवाहन न सुन सकूंगी। मैं तुम्हें कोई चित्र, उपहार अथवा स्मृति-चिन्ह नहीं छोड़ रही हूं। तुमसे भी तो मुझे कुछ नहीं मिला। जीवन में भी मेरा भाग्य यही था और मृत्यु में भी यही। अपनी अंतिम घड़ी में भी तुम्हें नहीं पुकारूंगी। मूक चली जाऊंगी अपने मार्ग पर, अपना नाम तथा आकृति अज्ञात रखकर इस अंतिम बेला में केवल एक भाव लेकर मैं सुख से मर सकूंगी—मेरे अभाव में तुम्हारा जीवन—मार्ग सूना न होगा। यदि मेरी मृत्यु से तुम्हें तनिक भी क्लेश होता तो यह शरीर मैं कैसे छोड़ पाती?

मैं अब अधिक नहीं लिख सकती। मेरा मस्तिष्क

घूम रहा है। मेरे रोम रोम में वेदना हो रही है। ज्वर तीव्र होता जा रहा है। मैं बैठ नहीं पा रही हूं। कदाचित् शीघ्र ही सब कुछ समाप्त हो जायगा। कदाचित्, केवल इस बार, नियति की मुझ पर कृपा होगी और मैं अपने पुत्र को जाते न देखूंगी। मैं अधिक नहीं लिख सकती। विदा, प्रियतम, विदा। मेरा शत शत प्रणाम स्वीकार करना। इस पत्र को पढ़कर दुखी न होना, सोचना भी न कुछ, नहीं तो मेरी आत्मा को कष्ट होगा। जो कुछ भी हुआ उचित ही हुआ। मै तो अंतिम श्वास तक तुम्हारी आभारी रहूंगी। कितना सौभाग्य है कि मैं यह पत्र, अपनी जीवन-कथा, समाप्त कर सकी। अब कल्पना तो कर सकोगे कि कैसा था मेरा प्रेम। और अब यह प्रेम तुम्हें भारस्वरूप न होगा। तुम्हारे जीवन के उल्लास, उमंग में कुछ व्यतिरेक न पड़ेगा। मेरी मृत्यु से तुम्हें किंचित हानि न होगी। मुझे शांति देने को यही यथेष्ट है।

परंतु अब तुम्हारे जन्म दिवस पर कौन तुम्हें वह श्वेतपुष्प भेजेगा? पात्र रिक्त रहेगा। मेरे जीवन का सौरभ जो वर्ष में एक बार तुम्हारे भवन में भर जाता था, अब न रहेगा। उस घड़ी में मेरी एक अंतिम याचना है—प्रथम और अंतिम। मेरे हेतु उसे पूर्ण करना। अपने जन्मदिवस पर—जब मनुष्य अपने विषय में कुछ विचार करता है—कुछ

श्वेत पाटल पुष्प लाना और उसी पात्र में रखना, उसी प्रकार जैसे वर्ष में एक बार लोग अपने परिजनों का श्राद्ध करते हैं। मुझे ईश्वर में विश्वास नहीं रहा। मुझे श्राद्ध इत्यादिमें भी विश्वास नहीं। मुझ तो केवल तुम्हारी ही कामना है। मैं तो केवल तुम्हारी स्मृति में एक स्थान पाना चाहती हूँ—नीरव, अकिंचन। बोलो करोगे इतना? वर्ष में केवल एक बार!"

पत्र कवि के निर्जीव हाथों में से गिर पड़ा और वह विचारों में खो गया। धुंधली स्मृति—पड़ोसी की कृषांगी कन्या, राजमार्ग में मिली बाला, उपनायक भाद्रिक के यहां मिली तरूणी—अस्पष्ट—नदीतल में लुढ़कते पत्थरों की भांति आकारहीन, लक्ष्यहीन। मस्तिष्क में छायाएँ अस्त व्यस्त चित्र बनातीं परंतु स्पष्ट आकार न लेतीं। स्मृति में कहीं कहीं विद्युत् की चमक, फिर घोर अंधकार। चेष्टा करने पर भी दूर दूर तक प्रकाश नहीं। उसकी दृष्टि उस नीले पुष्प पात्र पर ठहर गई। आज वह रिक्त था। वर्षों से आज के दिन वह श्वेत पाटल पुष्पों से भर जाता था। आज वह रिक्त है। वह कांप उठा। प्रतीत हुआ कि एकाएक द्वार खुल गया और कहीं से ठंडी,

शीत वायु का एक झोंका कमरे में आ गया। मृत्युसूचक कंप और मृत्युहीन अमर प्रेम की लहर। मृत स्त्री का विचार उसके मस्तिष्क में चक्कर काटने लगा—दूर, पर्वतों से आते संगीत की भांति (जालों से भरे अंधकारमय भवन में फड़फड़ाते चिमगादड़ की भांति)।